तुलसीदास और उनके ग्रन्थ

भगीरथ प्रसाद दीक्षित

लखनऊ
अशोक प्रकाशन
१९५५

दो शब्द

महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजी हमारे राष्ट्रकी अक्षय निधि हैं। उनका प्रवेश और आदर प्राय: प्रत्येक सहृदयके हृदयमें है। विद्वान् और साधारण पढ़ा-लिखा हिन्दू, दोनों उनके रामायणको पढ़ते और उसमें रस लेते हैं। उसमें शिक्षित, अर्द्धशिक्षित, स्वल्पशिक्षित और अशिक्षित नर-नारियोंको रिझानेकी शक्ति है। उनकी विनयपत्रिकाके पदोंको पढ़कर भक्तका हृदय गद्‌गद हो जाता है। उनकी साधारण रचना हनुमान्‌चालीसा तककी लाखों प्रतियां बिक जाती हैं। उनकी रामायण—रामचरितमानस—का सभी भाषाओंकी पुस्तकों से अधिक प्रचार है। उनके रामचरितका अनुवाद रूसी भाषामें भी हो चुका है।

किन्तु तुलसीदास के प्रति कर्त्तव्यका पालन हम तीन सौ वर्ष बीत जाने पर भी, अब तक, पूर्णरूपसे नहीं कर पाये हैं। उन्होंने जो हमारा—हिन्दूजाति और हिन्दूधर्मका—उपकार किया, उस ऋणको चुकानेकी चिन्ता हमको नहीं है। चाहिए तो यह था कि गोस्वामीजी के जीवनवृत्तका यथार्थ और प्रामाणिक संकलन (उनकी करामातोंका कल्पनाप्रसूत वर्णन नहीं) कर प्रकाशित किया जाता; उनके जन्मस्थानका ठीक-ठीक निर्णय करके वहां उसे सुरक्षित किया जाता अथवा वहां स्थायी स्मारक स्थापित किया जाता। किन्तु इधर आज तक किसीने भी क्रियात्मक ध्यान ही नहीं दिया।

कुछ लोगोंने इस दिशामें कुछ किया भी तो उसमें आपाधापी अधिक और सत्यके निर्णयकी भावना नाममात्रको ही रही। किसीने उनकी जन्मभूमि राजापुरको ठहराया तो किसीने सोरोंको। किसीने उन्हें सनाढ्य तो किसीने सरयूपारी और किसीने कान्य-कुब्ज बताया। जीवनचरित भी प्रकट हुआ, पर प्रामाणिकतासे शून्य। हमसे तो विदेशी ही भले, जिन्होंने ईमानदारीके साथ इस ओर कदम बढ़ाया है। हर्षका विषय है कि स्वतंत्र भारतकी सरकार और नेता इधर प्रयत्नशील हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि तुलसीदास हमारे राष्ट्रकी निधि हैं। उनके सभी ग्रन्थोंके और भी अधिक प्रचारके लिए यह परम आवश्यक है कि प्रकाशकवर्ग विद्वानोंसे सुसंपादित कराकर उनके ग्रन्थोंका प्रकाशन करें। सम्पादनसे मतलब है रचनामें जिस स्थल पर कोई काव्यका चमत्कार है, उस पर प्रकाश डाला जाय; जहां पर कोई गूढ़ भाव है, उसे स्पष्ट किया जाय; जहां पर पाठकको कुछ शंका हो सकती है, उसका समाधान किया जाय; कठिन स्थलों पर सुबोध टिप्पणी रहे और जो कहीं-कहीं अशुद्ध पाठ प्रचलित हो गये हैं, उन्हें ठीक किया जाय। उदाहरणके तौर पर मैं यहां एक चौपाई पेश करता हूं। सभी प्रतियोंमें छपा है—

बायस पालिय अति अनुरागा।
होइ निरामिख कबहुं कि कागा।।

इसमें बायस और कागाके आनेसे पुनरुक्ति दोष है। कागाकी जगह सर्वनामका प्रयोग

होना चाहिए। फिर काव्यगत चमत्कार भी नहीं है। निरामिषके मुक़ाबलेमें किसी अच्छे आहारका उल्लेख आवश्यक है। गोस्वामीजी-जैसा उच्चकोटिका कवि कभी ऐसी चमत्कार-शून्य उक्ति नहीं कर सकता। असलमें पाठ होना चाहिए—

पायस पालिय अति अनुरागा।
होइ निरामिष कबहुं कि कागा।।

कौएको अति प्रेमसे खीर खिलाकर पालिए, पर क्या कभी वह मांस खाना छोड़ेगा? कभी नहीं। खल-वंदनामें कवि कहता है कि मैं यह रामचरितरूपी खीर कागरूपी खलों को खिलाना चाहता हूं, पर वे निंदारूपी आमिषका सेवन कभी न छोड़ेंगे। ज़रा ध्यान देने से ही इस पाठकी यथार्थता प्रकट हो जाती है। पर किसी प्रतिलिपिकारने भ्रमसे पा को बा लिख दिया (प्राचीन वर्ण-मालामें इन दोनोंकी लिखावटमें बहुत कम अन्तर पाया जाता है), बस, मक्षिकास्थाने मक्षिका छपने लगा।

खैर, इस ग्रन्थावलीके विद्वान् सम्पादकने इसके सम्पादनमें यथेष्ट परिश्रम किया है और तुलसीदास-सम्बन्धी ११ अनुच्छेदोंमें, उनकी रचनाके आधार पर अनेक मौलिक उद्भावनाएं और स्थापनाएँ की हैं। इसमें संदेह नहीं कि उन्हें पढ़-सुनकर गोस्वामीजी के भक्त चौंकेंगे, चिटकेंगे, विवाद भी शायद उठ खड़ा हो, पर मेरी विनम्र सम्मति यह है कि विद्वत्समाजको उन पर अवश्य विचार करना चाहिए। वे मौलिक स्थापनाएँ ये हैं—तुलसीदास जारज-सन्तान थे; अकबर ने दीन-इलाही चलाकर हिन्दू-मुसलिम मेलकी चेष्टा की थी, पर गोस्वामीजी के विरुद्धाचरणसे वह सफल न हुआ; गोस्वामीजी वेदके ज्ञाता न थे; गोस्वामीजी पहले शैवमतके गोसाईं थे; महाराज मानसिंह ने अकबर की प्रेरणासे गोस्वामीजी को दीन-इलाहीके अनुकूल करनेके लिए बहुत-सा धन दिया था और उस धनको गोस्वामीजी ने अपने प्रचारमें व्यय किया; गोस्वामीजी ने कई स्थल पर अकबर को बुरा-भला कहा है—कलियुगका अवतार माना है इत्यादि।

मैं स्वयं इनमें से कई बातोंसे मतभेद रखता हूं; पर अपना सिद्धान्त किसी आधार पर बनाने और उसे प्रकट करनेकी स्वतंत्रता हमारे देशमें सदासे मान्य रही है। किसी भी नये सिद्धान्तकी आधार-शिलाको परखकर खंडन करनेकी भी छूट बनी हुई है। हां, इस खंडन-मंडनका लक्ष्य केवल सत्यका निर्णय ही होना चाहिए। हम किसी मतका खंडन करें, मत-वालेका नहीं। अन्तमें मैं फिर एक बार यह कहूंगा कि पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने इस ग्रन्थका सम्पादन करनेमें जिस लगन, परिश्रम और सूझबूझका परिचय दिया है, उसकी क़दर होनी चाहिए।

रानीकटरा, लखनऊ
१ मई, १९५५

रूपनारायण पाण्डेय

विषय-सूची

१

गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास भारतके उन इनेगिने रत्नोंमें हैं जिन्होंने भारतकी संस्कृति पर प्रभाव डाल कर हमारी मानसिक, व्यावहारिक और सामाजिक भावनाके स्वरूपको बहुत कुछ बदल दिया है। यही नहीं, इसके कारण देशकी राजनीतिक धारामें भी महान् परिवर्तन दिखलाई देता है। इस महाकविके प्रभावसे हमारे जीवनके रहन-सहन और उसकी प्रणालीमें कई प्रकारकी विशेषताएं भी आ गई हैं।

भाषा और साहित्यमें तो ऐसी वृद्धि दिखलाई देती है कि इस कविकी प्रतिभाने न केवल भारतको ही गौरवान्वित और लाभान्वित किया वरन् विश्व-साहित्यमें भी एक प्रतिष्ठापूर्ण स्थान बना लिया है। पारिवारिक जीवनमें भी इस विभूति ने महत्त्वपूर्ण विकासके साथ नव-नव उद्भावनाएं भर दी हैं। भाषाकी सजीवता और विविधता ने तो और भी कमाल दिखाया है। भावोंके उतार-चढ़ावकी श्रृंखला जीवन-स्रोतोंको कहां तक प्रस्फुटन दे सकती है इसका हम उसके प्रभावसे ही अनुमान कर सकते हैं।

आध्यात्मिक विचार-धारा तो इसकी मुख्य देन है। कबीर जैसा महान् सन्त और प्रबल सुधारक जिस राम नामकी भावनाको सार्वदेशिक रूप न दे सका था और वह क्षीणकाय धाराके ही रूपमें यत्र-तत्र प्रवाहित हो रही थी उसीको महासागरका रूप दे देने-वाले गोस्वामी तुलसीदास ही हैं। देशकी प्रगतिको देखकर उसकी नाड़ीको ठीक-ठीक पहचानना हमारे इस चरित्र-नायकका ही काम था। इस राम-भक्ति-रस से उन्होंने सारे उत्तरी भारतको शराबोर कर दिया है। आज भारतीय संस्कृति पर सबसे अधिक प्रभाव यदि किसीका दिखलाई पड़ता है तो वह गोस्वामी तुलसीदास का ही है।

हां, वर्तमान जीवनमें जो यत्र-तत्र गोस्वामी के कथनसे कुछ विभिन्नता दिखलाई देती है उसका कारण उस समयकी परिस्थितिका प्रभाव ही है जिसने उन्हें वैसा लिखनेके लिए बाध्य किया था। पर अब वे अवस्थाएं बहुत कुछ बदल जानेसे हमें वे भावनाएं विकृत रूप में राहके रोड़े जैसी प्रतीत होती हैं। फिर भी आधुनिक कालमें विश्ववंद्य महात्मा गांधी ने भी अपनी आध्यात्मिक विचार-सरणिकी स्फूर्ति गोस्वामीजी से ही ली है। इसीलिए राम नामकी महिमाका वर्तमान स्वरूप उनमें हम देखते हैं। आज गोस्वामीजी के रामचरितमानस का घर-घर, गांव-गांव और झोपड़ी-झोपड़ीमें जो प्रचार और प्रसार हमें दिखलाई देता है उसका कारण उसके द्वारा सदाचारकी वृत्तियोंका विकास, राम-भक्ति की आध्यात्मिक भावना और सांसारिक जीवनका पारिवारिक व व्यक्तिगत उत्थान ही मानना चाहिए। अतः आज भी वे भावनाएं हमारे लिए वैसी ही उपयोगी हैं जैसी गोस्वामीजी के समयमें थीं। आवश्यकता इस बातकी है कि हम उन्हें वर्तमान रूपमें ढाल कर उन सब बातोंको समयके अनुकूल बना लें तथा जहां-जहां उनमें त्रुटियां दिखाई दें वहां वहां उनमें संशोधन, परिवर्तन व परिवर्द्धन करके उन्हें वर्तमान युगकी वस्तु बना लिया जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम गोस्वामीजी की रचनाओंमें सुधार कर डालें, वरन् चाहिए यह कि गुण-दोष-विवेचन और आलोचन द्वारा उनके समाजोपयोगी कार्योंको ग्रहण किया जाय और इस कालकी परिस्थितिके विरुद्ध भावोंसे समाजको सावधान कर दिया जाय। इसीमें देश, समाज और व्यक्तिका हित निहित है।

२

परिस्थिति

गोस्वामीजी के ग्रन्थों तथा उनके विचारों व कार्यों पर विचार करनेसे पूर्व इस बातकी बड़ी आवश्यकता प्रतीत होती है कि सबसे पहले हम गोस्वामीजी के समयकी परिस्थिति पर एक विहंगम दृष्टि डालें और देखें कि उस समयकी राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक दशा क्या थी? उनका प्रभाव गोस्वामीजी पर क्या पड़ा था? उस कालमें शासनकी क्या रीति-नीति थी? समाजकी व्यवस्था कैसी चल रही थी? धार्मिक व आध्यात्मिक विचारधाराओंका स्वरूप क्या था?

जिस समय गोस्वामीजी ने जन्म लेकर भारत-भूमिको पावन किया था उसी समय बादशाह अकबर के इसी धराधाममें आविर्भूत होने पर उनके पिता हुमायूं ने कस्तूरी बांट कर उसकी सुगन्ध द्वारा उनकी कीर्ति-कौमुदी, विजय एवं यश-विस्तारकी सूचना दे दी थी।

इन दोनों (गोस्वामी तुलसीदास व अकबर बादशाह) का बचपन कष्टमें ही व्यतीत हुआ था। जहां गोस्वामीजी को अपने माता-पिता द्वारा परित्यक्त किये जाने पर अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा और चार-चार दानोंके लिए ललाते फिरना पड़ा था वहां अकबर के चचा मिर्जा अस्करी ने ही उन्हें क़ैद कर लिया था और हुमायूं के आक्रमण करने पर उन्हें तोपोंके मुंहके सामने दीवार पर बिठा दिया गया था। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों विभूतियोंका प्रारम्भिक जीवन घोर कष्टमय रहा, और दोनोंने ही अपने अध्ययन, बाहुबल, अनुभव और बुद्धिके सहारे संसारमें सफलता पाई। जहां प्रथम सज्जन ने आध्यात्मिक आराधना द्वारा साहित्यिक और मानसिक विजय प्राप्त कर हिन्दी-भाषी उत्तरी भारतको

अपनी भावनासे आप्लावित कर दिया था वहां द्वितीय महानुभावने अपनी दूरदर्शिता, शक्ति, संगठन, हिन्दू-मुस्लिम मेलकी भावना और उदारता आदि गुणोंके सहारे पूरे उत्तरी भारतको तो अपने अधिकारमें कर ही लिया था, दक्षिणी भारत पर भी विजयका श्रीगणेश कर दिया था। जिस समय गोस्वामीजी विद्याध्ययन के लिए शूकर-क्षेत्रमें अपनी तपस्यामें लगे थे उसी समय अकबर ने दिल्ली राज्यकी वागडोर अपने हाथमें सँभाल ली थी और राष्ट्रके संगठनमें तल्लीन हो रहे थे।

बीरबल, महाराज मानसिंह, टोडरमल, अबुलफ़ज़ल और फ़ैज़ी की सहायतासे अकबर राज्य शासनकी बड़ी ही सुन्दर व्यवस्था करते जा रहे थे। इसका परिणाम यह था कि भारतमें एक नवीन उपयोगी और सुखद वातावरण बन रहा था और उसके सामाजिक जीवनको उत्थानकी ओर अग्रसर किया जा रहा था। पर समयकी परिस्थितियों, वैष्णव समाजकी पुष्टिमार्गी भावनाओं तथा मुसलमानोंकी वासनापूर्ण विचारधाराने समाजमें कुछ कलुषता भी भर दी थी जिसको कुछ राजकीय महानुभाव भी बुरा समझ रहे थे। उसीका परिणाम मीनाबाज़ारके रूपमें प्रकट हो रहा था। सर्वसाधारणमें भी उक्त बातें फैल रही थीं। गोस्वामीजी को उनके विद्याध्ययन कालमें ही यह भावना अखर रही थी। पौराणिक संस्कृतिसे मेलकी उक्त भावनासे जो समाजका नवीन रूप बन रहा था वह भी उनकी रुचिके अनुकूल न था।

महाराजा मानसिंह और राजपूतानेके अन्य अनेक राजाओंने इस मुग़ल-वंशसे विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। राणा प्रताप अपनी शक्ति भर विरोध कर रहे थे, पर अन्त में उन्हें भी मात खानी पड़ी और उन्हींका पुत्र राणा अमरसिंह अकबरी दरबारका एक सदस्य बन गया। इस प्रकार सैन्यबल व राजनीतिक चालसे हिन्दू जातिने हार मान ली थी। पर आध्यात्मिक भावना फिर भी कुछ उच्च अवस्थामें थी।

अतः हिन्दू समाजकी आचारसम्बन्धी, आध्यात्मिक और साहित्यिक भावनाने अकबर को बहुत प्रभावित कर लिया था, इसीसे वह हिन्दू समाज और सिद्धान्तोंको स्वीकार करनेको तैयार थे। पर अकबरी दरबारमें कुछ कलुषता आ जानेके कारण और वल्लभसम्प्रदाय की विचारधारामें भी अधिक शुद्ध सदाचारकी शुद्धता न रहनेसे कुछ हिन्दू आचाय इस हिन्दू-मुस्लिम-मिश्रण को अच्छी निगाहसे नहीं देखते थे। गोस्वामी तुलसीदासजी उनमें अग्रगण्य थे। उन्होंने अपने साहित्यका प्रभाव डालकर इस मेलकी भावनाको रोक दिया। उस समय मुसलमानी क़ब्रोंकी पूजा और दरगाहोंकी यात्राओंका महत्त्व बढ़ रहा था। इसीलिए अजमेरकी दरगाह और बहरायचके ग़ाज़ी मियांकी पूजा-यात्राके लिए हिन्दू

बहुत बड़ी संख्यामें जाया करते थे। और उक्त प्रभावसे हिन्दू लोग मुसलमान भी हो रहे थे जिनमें स्त्रियों व शूद्रोंकी संख्या अधिक थी। यह बात भी ब्राह्मण-समाजको बहुत अखरनेवाली थी। इन सब विचारधाराओंका स्पष्ट प्रभाव यह पड़ा कि हिन्दू मुसलमान एकताकी भावना क्रमशः विलीन होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि जहांगीर व शाहजहां के समय तक तो यह मेलकी भावना कुछ चलती रही, ये दोनों बादशाह हिन्दू सन्तों और आचार्योंसे मिलते भी रहे और उनके उपदेशोंसे लाभ उठाते रहे, पर दाराकी हारसे औरंगज़ेब के समयमें इसकी घोर प्रतिक्रिया हुई और अपने कट्टरपनके कारण इस बादशाहने सैकड़ों मन्दिरोंको ध्वस्त करके उसी मसालेसे मसजिदें तैयार करवा दीं। इसका नमूना काशी की ज्ञानवापीकी मसजिद और मथुराके केशवदेव के देहराको जामा मसजिदके रूपमें हम आज भी देख सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी की रचनाएं इन्हीं घटनाओं और परिस्थितियोंका परिणाम हैं जो उस समय भारतमें व्याप्त हो रही थीं। अतः वर्तमान सामाजिक और धार्मिक विचारधाराका हमें बहुत सावधानी और बुद्धिमानी के साथ संचालन करना चाहिए।

ब्रिटिश सरकारने वर्तमान कालमें हिन्दू और मुसलमान दोनोंमें भिन्नता लानेके लिए इन दोनोंमें ही कट्टरपन भरनेका प्रयत्न किया था और इसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए, पर हिन्दुओंकी भावनाको सामूहिक रूपमें वे अधिक उत्तेजना न दे सके। फिर भी एक समूह उनमें ऐसा अवश्य निकल आया जिसने अन्तमें महात्माजी की हत्या ही कर डाली। मुसलमानोंको समझाया गया कि तुम्हारी संस्कृति खतरेमें है। तुमको हिन्दू हजम कर जायँगे, अतः तुम्हें अलग हो जाना चाहिए। इसीलिए पाकिस्तानका आन्दोलन छेड़ा गया जिसका परिणाम लाखों हिन्दुओं और मुसलमानोंकी बरबादी हुई। और कितने मारे गए, नहीं कह सकते।

कबीर, गोरखनाथ व दादू आदि सन्तोंने हिन्दू-मुस्लिम मेलके लिए अकबर से बहुत पहले ही उद्योग प्रारम्भ कर दिया था, जिनका प्रयास धीरे-धीरे सफलता की ओर जा रहा था। इसी बीचमें सूफ़ियोंकी धारा भी क्रमशः विकास पा रही थी जिसका ऊपरी आधार मुसलमान संस्कृति ही थी, पर उसमें वेदान्तकी धारा भी मुख्य रूपमें प्रवाहित थी। इनमें से सन्तोंने तो आर्य संस्कृति और सदाचारकी प्रवृत्तियोंका पूरा निर्वाह किया इसी-लिए वे सफलताकी ओर अधिक अग्रसर थे। पर इन सूफ़ियों, वल्लभी वैष्णवों और अकबर के दरबारियोंमें सदाचारकी वह प्रवृत्ति नहीं थी जो उनकी महत्ताको ऊंचा उठा सकती, इसीलिए इन लोगोंको हिन्दू-मुस्लिम मेलमें अधिक सफलता नहीं मिल सकी। वरन् यह कार्य वहीं ठप हो गया।

ऊपर लिखी बातोंसे हम सरलतासे अनुमान कर सकते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास के समयमें राजनीतिक और धार्मिक परिस्थिति क्या थी? और वे किन परिस्थितियोंमें बँधकर अपनी रचना कर रहे थे। अकबर के सुशासन, शान्तिप्रिय भावना और हिन्दू-मुस्लिम मेलकी विचारधाराके फलस्वरूप ही सूर और तुलसी जैसे कवि पैदा हो सके। वास्तु कला, संगीत और वेष-भूषा, सभीमें हमें यह मेलकी भावना दृष्टिगोचर होती है। अतः हम इसे स्वर्ण-युगके नामसे अभिहित करें तो अनुचित न होगा।

तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था जन्मपरक मानी जा रही थी। उसमें हिन्दू-मुस्लिम मेलकी भावनाको स्थान न था, और न सामाजिक परिवर्तन की ही आशा की जा सकती थी। गोस्वामीजी ने भी इस मेलको अनुचित मानकर इसी रूढ़ि-व्यवस्थाका सहारा लिया। इससे भारतीय समाज और भी अधिक संकुचित क्षेत्रोंमें विभाजित हो गया। इससे स्पष्ट है कि हमारी सामाजिक परिस्थति और भी अधिक बिगड़ी हुई थी।

३

गोस्वामीजी की प्रवृत्तियां

परिस्थितिमें यह दिखलाया गया है कि वल्लभ सम्प्रदायके वैष्णवों, सूफ़ियों और अकबरी दरबारियोंमें सदाचारकी वह उच्च प्रवृत्ति नहीं थी जो भारतीय समाज पर उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती। वरन् इनके कारण समाजमें कुछ कलुषित भावना फैलनेकी आशंका होना स्वाभाविक है। गो० तुलसीदास और कुछ उनके अन्य साथियोंको ये बातें बहुत अखर रही थीं। इसी विचारधाराके अनुगामी राणा प्रताप और दुरसा जैसे कवि थे। राणा प्रताप ने शस्त्रके बलसे उस मेलका विरोध किया, पर वे तो असफल रहे। अकबर की उदारता, न्यायप्रियता, साहस और दानशीलताने हिन्दू और मुसलमान दोनोंको वशंवद बना रखा था। इससे सब उसे चाहते थे। पर कुछ कट्टर मुसलमान भी उससे असन्तुष्ट थे। दुरसा कवि राणा प्रताप का महान् भक्त था। उसने सैकड़ों दोहे राणा प्रताप की प्रशंसामें बना डाले थे। पर अकबर का दरबारी कवि होते हुए भी उसने कभी अकबर की प्रशंसामें एक भी दोहा नहीं लिखा। इस पर भी अकबर दुरसाजी का बहुत आदर करता और उन्हें बहुत धन देता था। इससे आप सरलतया बादशाह अकबर की उदारताका अनुमान कर सकते हैं। इस पर भी गो० तुलसीदास अकबर की नीतिसे असन्तुष्ट थे।

प्रथम प्रवृत्ति. वे हिन्दू-मुस्लिम मेलकी भावनाको उचित नहीं समझते थे; क्योंकि इससे वे ब्राह्मण-क्षत्रिय-रक्तके दूषित हो जानेका अनुमान कर रहे थे। इसीलिए उनकी धारणा थी कि ब्राह्मण कुलमें जन्म लेनेवाला ही ब्राह्मण है और क्षत्रिय कुलका अधिकारी क्षत्रियवंशज ही हो सकता है। इससे उन्होंने मर्यादाकी रक्षा अपने विचारके अनुसार की। इसमें गोस्वामीजी

की भूल हो सकती है, क्योंकि वे वेदकी भावनासे अनभिज्ञ थे। वेदके गीत उन्होंने अवश्य गाये थे, पर उसके अनुसार ५% भावना भी उनकी रचनाओंमें नहीं दिखलाई देती। यही हमारे उक्त कथनकी स्पष्ट साक्षी है। वे वर्ण-व्यवस्था जन्मपरक मानकर चल रहे थे जो कि वेद-विरुद्ध भावना थी।

दूसरी प्रवृत्ति. गोस्वामीजी सदाचारको सबसे प्रमुख स्थान देते थे, इसीसे उनके ग्रन्थों में कहीं भी घोर श्रृंगार व अश्लील भावना नहीं दिखलाई देती, यद्यपि उनके समकालीन व पूर्ववर्ती सभी कवियों की रचनामें गहरे श्रृंगारकी मात्रा प्रर्याप्त रूपमें मिलती है। यहां तक कि महात्मा सूरदासकी रचनामें भी घोर श्रृंगारिक भावना कम नहीं है। पर गो० तुलसीदासजी इससे बचे रहे।

तीसरी प्रवृत्ति. स्त्रियों और शूद्रोंको गोस्वामीजी हेय समझते थे, क्योंकि ये दोनों ही अन्धविश्वासके शिकार हो रहे थे और गाजी मियां व अजमेर दरगाहकी यात्रा खूब करते थे तथा उनके प्रभावमें आकर मुसलमान भी हो रहे थे। इसीलिए इनकी इन्होंने खूब भर्त्सना की है।

चौथी प्रवृत्ति. ब्राह्मणोंका अनुचित पक्षपात है। वे समझते थे कि ब्राह्मण ही अपने धर्म पर दृढ़ रह सकता है और उसके द्वारा ही समाजकी रक्षा की जा सकती है। अतः ब्राह्मण मूर्ख होने पर भी आदरणीय व पूजनीय है। इनके द्वारा ही वे अपने भावों के प्रचार की आशा करते थे। और इसमें वह सफल भी हुए।

पांचवीं प्रवृत्ति. वेदकी भरपूर प्रशंसा करना है। वे समझते थे कि वेद ऐसी वस्तु है जिसके आधार पर ही हम अपनी भावनाको अग्रसर कर सकते हैं, क्योंकि वही आदि ग्रन्थ और ईश्वरीय वाणीके रूपमें प्रतिपादित है। और सब आचार्योंने इन्हीं वेदोंका सहारा लिया था। फिर भी उनकी रचनामें वैदिक भावना थोड़ी ही है।

छठी प्रवृत्ति. पौराणिक संस्कृतिका विस्तार करना है जिसके विषय में उनका गहरा अध्ययन था। इसीलिए राम नामकी महिमा और हनुमान्‌जी की प्रतिमा की उन्होंने स्थापना करवाई थी। पौराणिक संस्कृतिको वह मुस्लिम संस्कृतिके स्थान पर स्थित करना चाहते थे। इसमें वे पूर्णतया सफल हुए हैं।

सातवीं प्रवृत्ति. साहित्यिक उच्च आदर्श समाजको देना थी। इसीसे अलंकार-शास्त्र और रस-निरूपणकी विशेषता उनकी रचनामें खूब देख पड़ती है। रामचरितमानसमें तो इस प्रवृत्तिका अच्छा विकास दिखलाई देता है। उनके अन्य ग्रन्थों में भी हम इस भावनाके दर्शन पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी संस्कृत साहित्यके प्रकांड पंडित थे तथा अलंकार

शास्त्र, रस और ध्वनि आदिका उन्होंने गंभीर अध्ययन किया था। पर नायिकाभेदसे उन्होंने अपने साहित्यको बचानेका पूरा प्रयत्न किया है, क्योंकि इसे वे देश और समाज दोनोंके लिए अत्यन्त हानिकारक समझते थे और इसमें कलुषित भावनाका गहरा पुट पाते थे।

आठवीं प्रवृत्ति. विविध प्रकारकी भाषाका प्रयोगकर परिमार्जित और साहित्यिक जीवनका स्तर ऊंचा उठाना। इसीलिए उन्होंने ब्रजभाषा, अवधी, कन्नौजी, बुंदेली आदि भाषाओंकी कई-कई शैलियाँ दिखाकर साहित्यिक भाषाका सुथरा रूप समाजके सामने रखा। इनमें से ब्रजभाषाके अनेक रूपोंको कवितावली, पदावली, दोहावली, मानस और विनयपत्रिकामें हम भली प्रकार देख सकते हैं। इसी प्रकार अवधीकी अनेक शैलियोंको बरवै रामायण, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल और रामचरित मानसमें स्पष्टतया देख सकते हैं। इसी तरह कन्नौजी व बुंदेलीके रूपको हम उनकी रचनामें यत्रतत्र विखरा हुआ पाते हैं। इससे हम भली भांति उनकी इस प्रवृत्तिका पता लगा सकते हैं। कुंडलिया रामायण व मानसमें ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

नवीं प्रवृत्ति. गोस्वामीजी समाजके लिए दो धाराएं चलाना चाहते थे। (१) गार्हस्थ्य जीवनके लिए वर्ण-व्यवस्थाको कड़ाईसे पकड़ा था और उसे जन्मपरक मानकर आगे बढ़ाना चाहते थे। पर जो हिन्दू भिन्नधर्मी बन जाय उसके लिए समाजमें स्थान नहीं था। पर सन्त मतके आधार पर वैराग्य दशामें कोई भी व्यक्ति रामभक्त हो सकता है। उसमें यवन, शक, खस, चांडाल, सभीके लिए दरवाजा खुला हुआ था। इस पथ पर चलनेकी किसीको रोक नहीं थी। पर गोस्वामीजी के इस दूसरे मार्गको किसीने नहीं अपनाया, क्योंकि सामाजिक रूपमें वे इस प्रवेश पर रोक लगा चुके थे। ऐसी दशामें एकांगी पथ और अधूरा मान कौन स्वीकार कर सकता था।

दसवीं प्रवृत्ति. पौराणिक सम्प्रदायोंका समन्वय और दार्शनिक विचारोंकी एकता भी उनका एक प्रधान लक्ष्य था। इसीलिए उनमें शैवों व वैष्णावोंका मेल करानेकी प्रवृत्ति बड़ी प्रबल थी। इसी प्रकार अद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैतके दार्शनिक विचारोंकी चर्चा भी मानसमें विस्तारसे आई है। पर उनके समन्वयकी चर्चा न होते हुए भी इन सबको मान्य ठहरानेकी भावना उनमें अवश्य पाई जाती है। द्वैतकी वैदिक भावना उनकी रुचिके अनुकूल न थी। इनका निजी मत अद्वैत ही जान पड़ता है।

ग्यारहवीं प्रवृत्ति. लोकाचारको महत्त्व देना है। इसमें ग्रामदेवी, देवता आदिको भी वह ले लेते हैं। कुआं पुजाना, नहछू कराना, वट-पूजा, लहकौरि आदि इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। विवाहमें गाली गवाना गोस्वामीजी के इसी विधानके अन्तर्गत आता है।

बारहवीं प्रवृत्ति. राम नामका प्रसार उनकी सर्वोपरि प्रवृत्ति थी। "राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि कलि कलुष बिदारी।" —मानस। इससे हम सरलतया उनकी राम-नाम-महत्ताकी भावनाका अनुमान कर सकते हैं। यह ठीक है कि उनमें भक्तिका उद्रेक बढ़ा हुआ था, पर साहित्यिकता भी उनमें कम नहीं थी। इन दोनोंमें किसका पलड़ा भारी है, नहीं कह सकते। पर यह निश्चित है कि वे भक्ति-प्रधान कवि थे। इसीलिए उन्होंने कबीर के निर्गुण रामको सगुण रामका रूप दे दिया था, जिसके कारण व्यापकता अधिक बढ़ गई और यह भक्ति जनसाधारणकी चीज हो गई।

इन द्वादश प्रवृत्तियोंका दिग्दर्शन हम गोस्वामीजी की रचनामें अवश्य पाते हैं और इन्हीं बातोंको लेकर उन्होंने चाहे फुटकर रूपमें अथवा प्रबन्धके रूपमें इनकी चर्चा अवश्य की है, जिनसे उनके ग्रन्थ ओतप्रोत हैं।

४

संस्कृति और उसका आधार

गोस्वामीजी की रचनाका आधार पौराणिक संस्कृति थी जो कि सहस्रों वर्षोंकी राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक परिस्थितियोंका परिणाम थी। वे आर्य संस्कारों में कुछ वेदका आधार अवश्य लेते हैं और सन्ध्यावन्दनमें भी कुछ सहारा वैदिक रहता है, पर इनमें वे लोकाचारको मुख्य स्थान देते हैं। इसीलिए उन्होंने रामलला नहछूकी रचना की। इस रचना के समय वे गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते प्रतीत होते हैं, क्योंकि इसमें कुछ अश्लीलसे हो गये हैं और शृंगारप्रियताका भाव व्यक्त होता है। नहीं तो उनके भावोंमें सदाचारकी भावना अच्छे रूपमें प्रदर्शित है। उनकी रचनाओंमें अवतारवाद, शिवलिंग की स्थापना, पार्वतीकी प्रतिमाका पूजन, रामका ईश्वर रूपमें चित्रण करना, मनु-शतरूपा से हजारों वर्ष तपस्या कराना और ब्रह्मा, विष्णु, महेश के कहने व समझाने पर भी उनका कुछ ध्यान न देना, इस बात का द्योतक है कि वे दशरथ-पुत्र रामको कबीरके राम ब्रह्मकी समकक्षता कर उसी स्थान पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वह अपने ग्रन्थों में उसीका प्रतिपादन करते हैं। आदिसे अन्त तक पौराणिक शैलीका विवेचन है। साथ ही भूत प्रेतादि का भी वर्णन करते हैं, ग्रामदेवी-देवताओं आदिकी पूजा करवाते हैं। साथमें विवाह आदि के अवसर पर गाली गवाना और कुआं, ग्रामदेवी देवताओंका पूजन, कन्या-दान, शिव-पूजन, शाखोच्चार ये सब लोकाचारके ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार गोस्वामीजीने अपनी रचनाओंमें इन्हीं बातोंका प्राधान्य रखा है।

यह पौराणिक संस्कृति हजारों वर्षके संस्कारोंका फल है। हिन्दू जातिमें यवन, शक, हूण, पारसीक, द्रविड़, मंगोल, नाग, गोंड, भील, आर्य आदि बीसियों जातियोंका और

इन्हीं सबके संस्कारोंका सम्मिश्रण है और इन्हीं सबके संस्कारोंका मिश्रित रूप वर्तमान हिन्दू-संस्कृति है।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था कर्मपरक है, पर गोस्वामीजी जन्मपरक पर ही ज़ोर देते हैं, इसी- लिए वे मूर्ख, धूर्त और अज्ञानी ब्राह्मणको भी पूज्य मानते हैं और ज्ञानी और सद्भक्त शूद्र को त्याज्य और गर्हित समझते हैं। इस प्रकार उन्होंने वर्णव्यवस्थाके विकृत रूपको ही स्वीकार किया है और वैदिक वर्ण-व्यवस्थाकी चर्चा तक नहीं की। फिर भी पौराणिक शैली की अश्लील व कामुकतापूर्ण भावनाको उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि उनके हृदयमें समाज-सुधारका विचार अवश्य था। पर वैदिक ज्ञान न होनेसे ही उन्होंने पुराणों और लोकाचारका सहारा लिया। और इन्हींके सहारे हिन्दू-संस्कृति और समाजको मुसलमानी धर्म व उनकी संस्कृतिसे बचानेका प्रयत्न किया। यहां तक कि गुरु गोरखनाथके अलखिया सम्प्रदायको भी खूब फटकार बतलाई और उनके योग-मार्गको भी, जो वैदिक भावनासे ओतप्रोत है, गर्हित ठहराया। यह सब उन्होंने वेदका अध्ययन न करनेके कारण ही बाध्य होकर किया था। गोरखनाथ हिन्दू-मुसलमान मेलके पक्षपाती थे। इससे भी गोस्वामीजी को उनसे चिढ़ थी। इस समय नाथ-सम्प्रदाय अधिकांश मुसलमानी धर्म मानता है। वे समझते थे कि सब पुराण वेदके अनुगामी हैं और वेदका आधार लेकर ही बनाये गये हैं। यद्यपि वे यह भी समझते थे कि पुराणोंमें परस्पर विरोधी भावनाएं भी मौजूद हैं। परन्तु उन्होंने "हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।" कहकर इनका समाधान किया था। इससे स्पष्ट है कि उनके वास्ते इसके लिए अन्य कोई मार्ग भी तो नहीं था जिसके आधार पर वे अपने साहित्यकी भित्ति खड़ी करते।

हां, राम-भक्ति का सहारा कबीरके अनुकरण पर अवश्य लिया था। उन्होंने समझा था कि निराकार भावना सर्वसाधारणके हृदयमें स्थान नहीं पा सकती और न योगकी क्रियाएं ही सर्वसाधारणके लिए सुगम हैं। इसीलिए सूरने अपनी स्पष्ट भावनाके आधार पर— "सब बिधि अगम अगोचर ताते सूर सगुन लीला पद गावै।" कहा, पर गोस्वामीजीने "राम ते अधिक राम कर नामा।" तथा "अगुणहि सगुणहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं मनसम्भव खेदा।" के द्राविड़ी प्राणायामका अनुगमन कर सगुण भक्तिका प्रसार किया। इस प्रकार उन्होंने समाजके लिए दो मार्गोंका निर्देश किया—

(१) एक तो सामाजिक जीवनमें वर्ण-व्यवस्थाके स्वरूपको जन्मपरक मानकर ज़ोर से पकड़ा था और उससे टससे मस नहीं होना चाहते थे, इसीलिए वे शाखोच्चार और वर्ण- परम्पराको महत्त्व देते हैं तथा महादेव पार्वतीजीको माता-पिता व गुरु मानते हुए भी उनके

पिताका ज्ञान न होनेसे विवाहमें खिल्ली उड़वाई है। और रामके सूर्यवंशी रूपको प्रशंसित माना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजीने इस जन्मपरक वर्ण-व्यवस्थाको कितनी कड़ाईसे पकड़ा था और इसी कारण अकबर बादशाहको हिन्दू समाजमें आनेसे रोकनेके लिए उन्होंने सफल उद्योग किया जिसके परिणामस्वरूप आज भारतमें मुसलमानोंकी संख्या ६ करोड़ है, जितनी अन्य किसी देशमें नहीं है और इसीके परिणामस्वरूप औरंगजेब जैसे बादशाहका जन्म हुआ व पाकिस्तान बनकर रहा।

(२) दूसरा मार्ग भक्तिपरक था। वे सबको राम-भक्तिका अधिकारी मानते हैं। उसमें शूद्र, यवन, स्त्री, ब्राह्मण, चमार, चांडाल सभीका राम नामसे पवित्र होना कहा गया है। पर इस उदारतासे किसी मुसलमानने कभी लाभ नहीं उठाया, जब कि वल्लभ-सम्प्रदाय में अनेक मुसलमान भक्त दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अन्तमें परलोककी भावना करता है; जीवन भर उसे संसारमें रहना और यहीं सबसे व्यवहार करना पड़ता है। ऐसी दशा में संसारको ठुकराकर और अपमानित होकर मोक्षके पीछे दौड़नेवाला शायद ही कोई भक्त मिले, जब कि मोक्षके साधन और फल अन्य सम्प्रदायमें भी वैसे ही सुगम हों और संसार में भी समानताका पद मिलता हो। इसीलिए गोस्वामीजीको इस विषयमें अधिक सफलता नहीं मिली। हां, गार्हस्थ्य जीवन, पारिवारिक जीवन और राम नामकी भक्तिका प्रसार उन्हींकी देन है, जिसने कबीरकी भावनाको थोड़ेसे परिवर्तनके साथ अग्रसर कर दिया। भाषा और साहित्यकी प्रभूत देनने भी उसके इस कार्यमें अच्छी सहायता की।

इस प्रकार भीतरी भावनाको तो स्फूर्ति दी ही, बाह्य ढांचेको भी ढालनेमें परोक्ष रूप से सहायता प्रदान की। बारातकी तैयारियां, दान-दहेज, नाई, तेली, धोबी, माली, सेवक आदिकी भावनाओंका भी चित्रण कर सामाजिक ढांचेमें कुछ साधारण-सा सुधार करनेका प्रयत्न किया। पर हास-विलासमें जीवनकी सामग्री मानकर भी वे अधिक जीवनदायिनी परिष्कृत सामग्री नहीं दे सके।

५

रचनाएं और उनका क्रम

गोस्वामीजी के नामसे लगभग ४० ग्रन्थ खोजमें मिले हैं। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो निश्चित रूपसे गोस्वामी तुलसीदास के नहीं हैं। अन्वेषणसे यह भी पता चला है कि तुलसी साहब आदि कई तुलसीदास हुए हैं, जिनकी रचनाएं भी गोस्वामी तुलसीदास के नाम पर चला दी गई हैं। उनका कुछ संशोधन खोज रिपोर्ट सूचीके प्रथम संस्करणमें कर दिया गया था और कुछ अब किया जा रहा है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास के रचे ग्रन्थों की पर्याप्त संख्या अलग की जा सकी है।

गोस्वामीजी का प्रधान ग्रन्थ "रामचरितमानस" ही है। इसीने गोस्वामीजी को अत्युच्च पद प्रदान किया है, और इसीने भारतीय समाजकी विचारधाराको पर्याप्त मोड़ दिया है। गार्हस्थ्य जीवनके लिए तो यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। सामाजिक जीवन और राम-भक्ति-संविधानके लिए भी मानसने अपूर्व क्रान्ति कर दी है। इसकी महत्ता का इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि अंग्रेजी, फ़्रेन्च और रूसी भाषाओंमें भी इसके अनुवाद हो चुके हैं। हिन्दी साहित्यमें इसे सर्वोच्च पद मिल चुका है। विश्वसाहित्यके इने-गिने ग्रन्थोंमें भी इसका माननीय स्थान बन गया है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास को इस अकेले रामचरितमानस ने ही विश्वकवियोंमें स्थान दिला दिया है।

अब देखना यह है कि गोस्वामीजी की कौन-कौन सी रचनाएं हैं और उन्हें उन्होंने किस क्रमसे रचा है—यद्यपि यह एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त विषय है और अब तक निर्विवाद रूपसे यह निश्चय नहीं हो पाया है कि उनके ग्रन्थ कौन-कौनसे हैं, और उन्हें किस क्रमसे रचा गया है।

अब तक इस विषयमें दो ही प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) पं० रामचन्द्रजी शुक्ल आदि द्वारा सम्पादित और नागरी-प्रचारिणी-सभा काशीसे प्रकाशित तुलसी-ग्रन्थावली तीन भागोंमें। (२) डॉ० माताप्रसादजी गुप्त ने अपने डी० लिट्० के निबन्धमें तुलसीदास नामक ग्रन्थमें इस विषय का विस्तारसे विवेचन किया है।

सभा की ग्रन्थावली का क्रम	डॉ० गुप्त का क्रम
१. रामलला नहछू	१. रामलला नहछू
२. वैराग्य-संदीपनी	२. वैराग्य-संदीपनी
३. बरवै रामायण	३. रामाज्ञा प्रश्न
४. रामचरितमानस	४. जानकीमंगल
५. पार्वती-मंगल	५. रामचरितमानस
६. जानकी-मंगल	६. सतसई
७. रामाज्ञा प्रश्न	७. पार्वती-मंगल
८. दोहावली	८. गीतावली
९. कवितावली व बाहुक	९. विनय-पत्रिका
१०. गीतावली	१०. कृष्ण-गीतावली
११. श्रीकृष्ण-गीतावली	११. बरवै
१२. विनय-पत्रिका	१२. दोहावली
	१३. कवितावली (बाहुक सहित)

रामलला नहछू—सभावाली ग्रन्थावलीमें क्रम रखनेका कारण विस्तारसे नहीं दिया गया, अतः उस पर विवेचनात्मक रीतिसे परिष्कृत रूपमें विचार नहीं किया जा सकता। फिर भी यह ठीक है कि "रामलला नहछू" प्रारम्भिक रचना है, क्योंकि इसकी भाषा और विचार-क्रम दोनों ही उखड़े हुएसे हैं।

जान पड़ता है, गोस्वामीजी ने इस नहछूकी रचना यज्ञोपवीतके अवसर पर की। इसमें केवल राम की चर्चा है, न वधुओंका उल्लेख है और न अन्य भाइयोंके विषयमें ही कुछ कहा गया है। इसमें वर और दूलह शब्दोंका प्रयोग लौकिक भावनाको और भी भली प्रकार प्रकट करता है। यू० पी० के पूर्वी जिलोंमें इसे नहछू कहते हैं, पर पश्चिमी जिलोंमें इसे 'नहोड़े' के नामसे पुकारा जाता है। विवाहके अवसर पर भी नहछू होता है, पर

समावर्तन पर इसका महत्त्व विशेष उल्लेखनीय होता है। इसलिए इसे यज्ञोपवीतके अवसर का नहछू मानना ही युक्ति-युक्त है।

इस सम्बन्धमें मेरा तो यह भी निश्चित-सा विचार है कि यह रचना गोस्वामीजी ने अपने गृहस्थ जीवन कालमें ही रची होगी। वैराग्य धारण करने पर इस प्रकारकी घोर शृंगारिक और अश्लील रचना गोस्वामीजी कभी नहीं रच सकते। चूंकि इसकी प्रतियां प्राचीन भी मिलती हैं और इसे गोस्वामीजी की रचना सभी प्राचीन और नवीन विद्वान् मानते चले आ रहे हैं, अतः इसे गोस्वामीजी की ही रचना माना जाना युक्ति-युक्त है।

वैराग्य-सन्दीपनी. गार्हस्थ्य जीवनके त्याग पर ही यह सन्दीपनी रची गई है। "वैराग्य सन्दीपनी" नाम भी इसी बातका द्योतक है। गृह-त्याग पर ही सन्त-भावना उनके हृदयमें आना स्वाभाविक है। देशाटन, सन्त-समागम, विद्वानोंसे मिलन आदिसे जो विचार उनके हृदयमें आये, उन्हींका वैराग्य-सन्दीपनीमें प्रतिपादन किया गया है।

अन्तिम दोहेमें "अनुचित वचन विचारि कैं जस सुधारि तस देहु।" वचन इस बातका द्योतक है कि यह भी प्रारम्भिक रचना है, जिसमें उन्होंने सुधारनेकी प्रार्थना विद्वानों और सन्तोंसे की है। इस पुस्तकमें राम-भक्ति, सन्त-महिमा, सन्त-स्वभाव और शान्तिभावका विवेचन ६२ छन्दोंमें किया गया है। इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिसे अनुचित और अपठनीय माना जाय। वैराग्यकी तीव्रतामें कलुषित रूपका आना सम्भव भी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृह-त्यागके वर्ष दो वर्ष बाद ही इस ग्रन्थकी रचना की गई होगी, जिसे हम रामचरितमानसकी तैयारी कह सकते हैं। इसे भी सब विद्वान् प्राचीन काल से गोस्वामीजी की रचना मानते आये हैं। इसकी भी सौ वर्षसे अधिक पुरानी प्रतियां मिलने से हमें सन्देह करनेका स्थान नहीं है।

रामाज्ञा प्रश्न. इस पुस्तिकाकी रचना सं० १६२१ ई० में हुई थी, जैसा कि उसके निर्माण-कालके दोहेसे स्पष्ट है—

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नभवान।
होय सुफल सुभ जासु जस-प्रीति प्रतीति प्रवान॥

७-७-३

इसमें इसका निर्माणकाल सं० १६२१ वि० निकलता है। यह सगुनौतीकी पुस्तक किन्हीं गंगाराम ज्योतिषीके लिए लिखी गई है। इसमें शुभाशुभ सगुनोंका विवेचन किया गया है। इसमें गोस्वामीजीने निर्माण-समय और गंगारामके नामका उल्लेख किया है। डॉ०

माताप्रसादजी गुप्त ने इसके क्रमके निर्णय पर उचित रूपसे पहुँचनेका प्रयत्न किया है, जो ठीक ही जान पड़ता है।

रामचरितमानस. सं० १६२१ वि० के बाद ही गोस्वामीजी ने रामचरितमानस की रचनाके लिए तैयारी प्रारम्भ कर दी थी। इसके लिए अध्ययन और अनुभव दोनोंका ही उन्होंने पूरा सदुपयोग किया था। देश, कालकी परिस्थिति, व्यवहार और आचार सभी का प्रयोग करते हुए रामका चित्रण करनेका विचार किया और पूरे दस वर्ष इसकी तैयारी में लगाये। रामाज्ञा प्रश्नकी सफलतासे उन्हें और भी उत्साह हुआ प्रतीत होता है। परोक्ष रीतिसे उन्होंने अकबरकालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितिका भी गम्भी-रतापूर्वक अध्ययन किया था। तत्कालीन दार्शनिक भावनाओंका समन्वय तो उनका लक्ष्य ही जान पड़ता है। मुग़ल सम्राटोंमें पिता-पुत्रोंकी कलहप्रिय भावनासे समाजकी रक्षा करना भी उनका एक उद्देश्य अवश्य था। कृष्ण-भक्तिके सहारेसे जो कलुषितता समाजमें दिखलाई देती थी, उसे भी वे परिष्कृत करना चाहते थे। गार्हस्थ्य जीवनके लिए जिस आदर्शकी स्थापना वे करना चाहते थे, वह भी उन्हें राम में ही दिखलाई देता था। अतः वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायणके आधार पर ही रामचरितमानसकी रचनाका आयोजन प्रारम्भ कर दिया था। संस्कृतके अच्छे पंडित थे ही। हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, रघुवंश, उत्तर रामचरित आदि ग्रन्थों और भागवत आदि पुराणोंके भी अच्छे ज्ञाता थे। अतः इन सबका उपयोग इन्होंने अपने मानसकी रचनामें किया। याज्ञवल्क्य, मनुस्मृति, चाणक्य स्मृति, शुक्रनीति आदि ग्रन्थोंका भी उन्होंने अध्ययन किया था। अतः इनका सहारा भी यदा-कदा पाया जाता है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-साहित्य-भंडारकी इस अमूल्य निधिको सब प्रकारसे उत्कृष्ट और श्रेष्ठ बनानेका उद्योग किया।

उनके समयमें हिन्दू स्त्रियोंमें मियां मदार, ग़ाज़ी मियां आदिकी पूजा भी बहुत प्रचलित थी। शूद्र लोग भी खूब बहरायचकी दौड़ लगाते थे। अतः इन मूर्खोंसे उन्हें बहुत चिढ़ थी। मेरा तो अनुमान है कि वे घूमते-घामते बहरायचके ग़ाज़ी मियांके मेलेको भी अवश्य देखने गये थे और उस कुंडको भी देखा होगा जिसमें स्नान करने पर कहा जाता था कि कोढ़ीका रोग अच्छा हो जाता है, अन्धेको आंखें मिल जाती हैं और बांझको पुत्रकी प्राप्ति होती है। तभी उन्होंने कहा था —

लही आंखि कब आंधरेंहि बांझ पूत कब जाय।
कब कोढ़ी काया लही जग बहरायच जाय॥

इसी बातसे असन्तुष्ट होकर रामचरितमानसमें स्त्री व शूद्रोंकी तीव्र भर्त्सना की है। फिर भी आज तक यह मूर्खता इनसे दूर नहीं हुई। इसका उपाय एकमात्र शिक्षाका प्रसार था, उसे ही बतानेकी आवश्यकता थी।

गोस्वामीजीने वर्ण-व्यवस्थाको जन्मपरक मानकर उसे कड़ाईसे पकड़ा था और इसी का मानसमें भली-भांति प्रतिपादन भी किया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि अकबर के मेलकी भावना वहीं ठप हो गई।

गोस्वामीजीने अकबरकालीन परिस्थितिमें एक बात बहुत खटकनेवाली पाई थी। अश्लील और गहरे शृंगारकी भावना उसमें बहुत व्याप्त हो रही थी। कृष्ण-भक्तिके नाम पर वल्लभ सम्प्रदाय और मथुराके अन्य कृष्णोपासक घोर शृंगारी थे। मुसलमानोंमें भी यह भावना परम्परासे स्वाभाविक चली आ रही थी। अतः यह कलुषितता हिन्दू-समाजमें भी फैलती जा रही थी। गोस्वामीजी ने इसे रोकनेका सफल प्रयत्न किया। पर इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-मुसलमान मेलकी भावना वहीं समाप्त हो गई।

मानसमें गोस्वामीजीने दो मार्गोंका अवलम्बन किया है। एक था वर्णव्यवस्थाको जन्मपरक मानकर उसका दृढ़तासे पालन करानेका प्रयत्न। इससे मुसलमान आदिके लिए हिन्दू-समाजमें आनेका पथ रुद्ध हो गया जिसका प्रत्यक्ष परिणाम अकबरकी नीति पर पड़ा। दूसरा मार्ग वैरागी-सम्प्रदायके लिए निर्धारित किया, जिसमें भक्तिके सहारे सबके राम-भक्त होनेका मार्ग खोल रखा था। इसके लिए वे कहते हैं—

श्वपच दरद खस यवन जड़ पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन-विख्यात॥

पर इस उदारतासे किसीने लाभ नहीं उठाया, जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

इस ग्रन्थ द्वारा शैव और वैष्णवका विरोध दूर करनेका प्रयास दिखलाई देता है। भाषा और भाव दोनों दृष्टियोंसे ग्रन्थ अत्युत्तम है। मानसका आकार बड़ा और ग्रन्थ विस्तृत होनेसे ग्रन्थावलीके दूसरे भागमें इसे नहीं रखा गया है, प्रथम भागमें अलग स्थान दिया गया है। पर रचनाक्रम दिखानेके लिए इसकी चर्चा यहां साधारण रूपमें कर दी गई है। इसका रचनाकाल सं० १६९१ वि० है, जिसका उल्लेख मानसमें गोस्वामीजीने स्वयं ही कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचनामें भी अधिक समय लगा और इसका प्रचार व प्रसार करनेके लिए भी अवश्य गोस्वामीजीने समय दिया होगा। इसीसे

सं० १६२१ और सं० १६४२ के बीच—२१ वर्षमें एकमात्र रामचरित-मानसकी रचना पाई जाती है।

सतसई. इसकी रचना गोस्वामीजीने सं० १६४२ वि० में की थी। इसकी उन्होंने स्वयं चर्चा की है। यथा—

> अहि-रसना थनधेनु रस गनपति-द्विज गुरुवार।
> माधव सित सिय-जनम-तिथि सतसैया अवतार॥

सतसई १-२१

इससे स्पष्ट है कि सं० १६४२ वि० को सीताजीकी जन्मतिथिके अवसर पर हीं सतसई की रचना प्रारम्भ की थी।

इसे कुछ विद्वान् गोस्वामीजी की रचना नहीं मानते। पं० सुधाकर द्विवेदीने इसे एक कायस्थकी रचना माना है। पर यह ठीक नहीं। निश्चित रूपसे यह गोस्वामीजी की रचना है। इसमें ३०० के लगभग दोहे गोस्वामीजी के अन्य ग्रन्थोंसे लिये गये हैं। गोस्वामीजी ने निर्माण-काल भी दे दिया है। उनकी ज्ञानगरिमा, सिद्धान्त, सामाजिक और दार्शनिक विवेचन सभीका पता इससे चलता है। कोई दूसरा न तो ऐसी रचना कर सकता है और न उनके पूरे सिद्धान्तका अनुयायी ही हो सकता है। अतः निश्चित रूपसें कहा जा सकता है कि यह गोस्वामीजी की रचना है।

दो-एक विद्वानोंका यह मत है कि इस सतसईमें वहुतसे दोहे गूढ़ार्थ (कूट) हैं अतः यह गोस्वामीजी की रचना नहीं। पर यह बात भी ठीक नहीं है। सूरदास ने कूट पदोंकी रचना की है। गोस्वामीजी ने उस समय तक प्रचलित सभी प्रसिद्ध पद्धतियोंका अनुकरण किया है, अतः कूट दोहे भी सूर का एक अनुकरण-मात्र हैं। पिंगलका अनुसरण भी इसी प्रकार की एक धारणा है। इसीलिए अधिकांश विद्वानोंने इसे गोस्वामीजी की रचना माना है। इन विद्वानोंमें नये और पुराने दोनों प्रकारके साहित्यिक दिखलाई देते हैं। अतः हमारा भी दृढ़ निश्चय है कि यह गोस्वामीजी की रचना है, इसलिए इसे हम ग्रन्थावलीमें स्थान देना उचित समझते हैं।

भाषाके विचारसे दोहे ब्रजभाषामें अच्छे रचे जाते हैं। पर सतसईके दोहोंमें वह उत्कृष्ट ब्रजभाषाका स्वरूप नहीं दिखलाई देता। इससे प्रतीत होता है कि इसके अधिकांश दोहे मानससे पूर्वके रचे हुए होंगे, पर सतसईका रूप देने और क्रम बैठाने पर वहीं रचना-काल दे दिया है। तथा न्यून दोहोंकी पूर्ति कूट, पिंगल आदिके आधार पर कर दी गई है।

जानकी-मंगल. गोस्वामीजी की यह बड़ी सुन्दर और परिष्कृत रचना है। डा० माताप्रसादजी गुप्त ने कुछ सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। उनमें कुछ मुख्य ये हैं––

(१) धनुष टूटने पर चरको सूचनार्थ अवध भेजा अथवा शतानंद द्वारा संदेश भेजा?

(२) परशुराम रंगभूमिमें ही आये अथवा विवाहोपरान्त मार्गमें वारातको मिले?

मानसमें धनुष टूटते ही परशुराम रंगभूमिमें लाये गये हैं और चरको सूचनार्थ अवध भेजा है। अतः जिनमें यह दोनों बातें पाई जावें वे ग्रन्थ मानसके पीछेके हैं। पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। गीतावलीमें धनुष-भंगके बाद ही परशुराम से विवाद कराया गया है, पर पुरोहित शतानन्दको सूचनार्थ अवध भेजा है।

इसी प्रकार कवितावलीमें विवाहके बाद मार्गमें परशुराम से भेंट कराई है। पर सूचनाके विषयमें वह मौन है।

इन दो उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि डाक्टर साहबने जो सिद्धान्त स्थिर किया था, उसकी जड़ ही खंडित हो जाती है, क्योंकि ये दोनों पुस्तकें निर्विवाद मानसके पीछे रची गई हैं। जानकीमंगलमें भी विवाह करके लौटने पर मार्गमें भृगुनाथ मिले हैं, और शतानन्द द्वारा जनक ने अयोध्याको सूचना भेज दी है।

यह भी मानससे पीछेकी रचना है। डा० साहबने एक प्राचीन प्रति पर "सं० १६३२ कथा किये सवा।" लिखा होने पर उसका अर्थ न समझनेके कारण और अपने उक्त सिद्धान्तके बीचमें आ जानेके कारण जानकीमंगलको मानससे पूर्वकी रचना मान लिया है।

यथार्थमें सधुक्कड़ी भाषामें उक्त पंक्तिका अर्थ है कि सं० १६३२ के बाद उक्त जानकी-मंगल ग्रन्थकी रचना हुई। अनुमान यह है कि किसी गोस्वामीके शिष्य साधुने प्रतिलिपि करते हुए अनुमानसे रचना-काल सं० १३३२ के बाद दे दिया है, जिसकी सूचना उसे कभी गोस्वामीजी से मिली होगी।

रही डा० साहबके सिद्धान्तकी बात। उसका गोस्वामीजी ही खंडन कर चुके हैं, जो कि गीतावली और कवितावलीसे स्पष्ट है।

यथार्थ बात यह है कि कविने सिद्धान्त रूपमें इस बातको लिया ही नहीं। उसने कविकी स्वतंत्रताका उपयोग किया है और जहां जब जिस बातको जैसा चाहा वैसा ही रख दिया। यह केवल कविकी इच्छा पर निर्भर है कि वह उसके विषयमें कितना परिवर्तन करना चाहता है। कालिदास, भवभूति आदि सब कवियोंने इस स्वतंत्रताका उपयोग किया है। अतः गोस्वामीजी को भी इस परिवर्तनकी स्वतंत्रता थी और उसीका उपयोग उन्होंने अपनी रचनामें किया है।

चूंकि पार्वती-मंगलकी रचना जानकी-मंगलकी अपेक्षा कुछ परिष्कृत है, इससे प्रतीत होता है कि जानकी-मंगलकी रचना पहले हुई है। और जब एक बार इसकी रचनामें हाथ मँज गया तब उसी छंदमें पार्वती-मंगल रचनेमें उन्हें और भी सफलता मिली। इससे स्पष्ट है कि जानकी-मंगलकी रचना सं० १६४३ वि० में हुई होगी। क्योंकि पार्वती-मंगल फागुन, सं० १६४३ में रचा गया है अतः उससे कुछ मास पूर्व ही जानकी-मंगलकी रचना होना ठीक जान पड़ता है। दोनोंका मंगलाचरण, छन्द-रचना और प्रणाली एक ही है, अतः दोनों ग्रन्थ साथ साथ ही रचे गये हैं। इसका नाम मंगल-रामायण भी है।

पार्वती-मंगल. जय सं० १६४३ (जय नामक) के फागुन मासमें इसकी रचना हुई। इन दोनोंकी रचना गोस्वामीजी द्वारा होना निर्विवाद है। इसे सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। यह बरवै इस विषयमें पार्वती-मंगलमें आया है--

जय संवत् फागुन सुदि पांचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचे हुँ मंगल पुनि सुख छिनु-छिनु॥ पार्वती-मंगल, छन्द ५

अर्थात् सं० १६४३ में फागुन सुदी ५, बृहस्पतिवारको अश्विनी नक्षत्रमें ग्रन्थकी रचना प्रारम्भ हुई। इस प्रकार यह गोस्वामीजी की सातवीं रचना प्रतीत होती है।

गीतावली. इसका नाम पदावली रामायण भी है। इसके कथानकमें अन्य ग्रन्थों से कई बातोंमें अन्तर पाया जाता है जो कि कविकी स्वतंत्रताका द्योतक है।

भाषाके परिमार्जित रूपके आधार पर भी कुछ क्रम और समयका अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। गोस्वामीजी के प्रारम्भिक ग्रन्थ अवधीमें हैं। इससे प्रतीत होता है कि उनकी मातृभाषा यही थी। रामलला नहछू शुद्ध अवधीमें है। फिर गृहत्यागके पश्चात् तीर्थाटन और सन्त-समागममें रहने पर वैराग्यसन्दीपनीकी रचना की है। इसमें ब्रज-भाषा और अवधीकी खिचड़ी खूब पकाई गई है। रामाज्ञामें भी अवधी और ब्रज-भाषा दोनोंका सम्मिश्रण दिखलाई अवश्य देता है, पर इसमें भाषा कुछ मँजी-सी मिलती है। उसका कारण स्पष्ट है—भ्रमण और सन्त-समागमसे भाषामें पर्याप्त परिमार्जन हो गया है।

इसके बाद ही इसकी परिमार्जित भाषामें रामचरितमानसकी रचना हुई है जिसमें अवधीका पुट कुछ विशेष मात्रामें होने पर भी दोनोंके मिश्रण रूपके ही दर्शन होते हैं। जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल दोनोंकी भाषा अवधी है, फिर भी वह नहछूसे अधिक परिमार्जित है। जायसीके पद्मावतकी भाषा अधिक देहाती ठेठ अवधी है, तुलसी की भाषा

में नागरिकताका पुट पाया जाता है। सन्त-समागम, तीर्थाटन और ब्रजभूमि व भदावर प्रान्तमें भ्रमण करनेसे उनकी भाषाका रूप बहुत कुछ निखर गया है।

गोस्वामीजी बीच-बीचमें दोहे कवित्त आदिकी फुटकर रचनाएं भी करते रहते थे। रामभक्ति, नीति आदि विषयों पर इनके फुटकर दोहों और कवित्तोंकी अच्छी संख्या दिखलाई देती है। जब उन्होंने गीतावलीकी रचना की तो पदोंमें ब्रज-भाषाका और भी परिमार्जित व निखरा स्वरूप प्रकट हुआ। क्योंकि ब्रज-भाषाका रूप तो सूरदास ने पदोंमें ढालकर खूब ही निखार दिया था, अतः गोस्वामीजी को वही मँजी ब्रज-भाषा मिल गई थी। उसे अपने संस्कृतज्ञानके सहारे उन्होंने अपना स्वरूप दे दिया था। भावोंमें भी मानस आदि ग्रन्थोंकी अपेक्षा इसमें अच्छी मात्रामें संशोधन, परिवर्द्धन दिखलाई देता है जिसकी चर्चा पदावली-विवेचनमें करनेका प्रयत्न किया जायगा।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीतावलीकी रचना मानस, सतसई आदि कई ग्रन्थोंके बाद हुई है। और इनके समयका निर्धारण करनेके लिए विषय संशोधनकी अपेक्षा—भाषाका विकास हमारी अधिक सहायता कर सकता है। सम्भावना यह भी है कि कुछ फुटकर पद पूर्वरचित हों। वे पदावलीमें रख दिये गये हैं।

कृष्णगीतावली. इसमें पदावलीकी अपेक्षा अधिक परिमार्जित भाषाके साथ ही विषयोंका संगठन अच्छा है। इसलिए प्रतीत होता है कि हाथ मँज जानेसे यह स्वाभाविक ही पदावलीसे उत्कृष्ट हो गई है। मेरा अनुमान है कि सं० १६४३ के बीचमें ये दोनों ग्रन्थ अवश्य रच लिये गये होंगे। रहीम के काशी के सूबेदार होने पर तुलसी और रहीम की गाढ़ी मित्रता हो गई थी। अनुमान यह है कि ये दोनों ग्रन्थ उसी समय पूरे हुए होंगे।

बरवै रामायण. जब रहीम काशीमें थे तब रहीम के दोहों और बरवै नायिका-भेद की भी चर्चा अवश्य रही होगी। अतः गोस्वामीजी ने भी सं० १६४७-४८में बरवै नायिका-भेद के अनुकरण पर बरवै रामायण नामक ६९ बरवै छन्दोंका एक छोटा-सा ग्रन्थ रचकर अवश्य रहीम खानखानाको सुनाया होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय इनकी प्रतिष्ठा काफ़ी बढ़ चुकी थी। रहीम खानखाना तो इनका आदर करते ही थे, महाराजा मानसिंह और उनके भाई जगत्सिंह भी गोस्वामी जी से मिलकर उनकी भेंट-पूजा कर चुके थे। इसी-लिए उन्होंने बरवैमें कहा है—

केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥ बरवै रामायण, ५९

तथा —

घर-घर मांगे टूक पुनि भूपति पूजे पांय।
ते तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय॥

दोहावली

इससे स्पष्ट है कि बरवै रामायण इसी समय रची गई। यह उनकी प्रारम्भिक रचना नहीं है, जैसा कि कुछ विद्वानोंने लिखा है। वह रोगग्रस्त और प्लेग आदि किसी गम्भीर रोगसे आक्रान्त भी नहीं थे। हां, वृद्धावस्था अवश्य थी जैसा कि उन्होंने स्वयं भी कहा है—

भरत कहत सब-सब कहँ सुमिरहु नाम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम॥

बरवै, ६५

इससे हम सहजमें बरवैकी रचना और उसके समयका अनुमान कर सकते हैं।

कुंडलिया रामायण. इस ग्रन्थको गोस्वामीजी-कृत रचनाके रूपमें बहुत कम अपनाया गया है। पिछले विद्वानोंमें बजनाथ कुर्मी ने तो इस पर भी टीका लिखी है जो कि गोस्वामीजी के परम भक्त थे।

इसकी प्रणाली अन्य ग्रन्थोंकी अपेक्षा मानससे अधिक मिलती है। इसमें ब्रजभाषाकी प्रधानता होते हुए भी बुन्देलखंडी व अवधीके शब्द भी मिलते हैं। सम्भवतः चित्रकूटमें रह कर इसकी रचना हुई है।

भाषा-विकासकी दृष्टिसे यह पुस्तक कृष्णगीतावलीके पश्चात् रची गई जान पड़ती है। बरवै रामायणकी रचना तो स्पष्ट अवधीका रूप है, क्योंकि यह छन्द अवधी भाषाके ही अनुकूल है और इसकी भाषामें अच्छा बैठता है। पर इसकी रचना रहीम खानखाना के काशीमें रहते हुए ही होना अधिक सम्भव है। भाषाके मँज जानेसे बरवैका रूप नहछू आदि की भाषासे अधिक परिष्कृत है। छन्दकी विशेषताके कारण इसमें अवधीका पुट अधिक रहना स्वाभाविक है।

पर भाषाके विकासके विचारसे प्रारम्भिक रचनाएं अवधीकी ओर अधिक झुकी हुई हैं और परवर्त्ती रचनाओंमें ब्रज-भाषाका विशेष पुट पाया जाता है। फिर ब्रज-भाषाकी जितनी रचनाएं हैं उनमें क्रम-विकासके कारण संस्कृत पदावली व तत्सम शब्दोंका प्रयोग पर्याप्त मात्रामें बढ़ता गया है। इसीलिए गीतावली, कृष्ण-गीता, कुंडलिया रामायण और विनयपत्रिकामें क्रमशः तत्सम व समासबहुल पदोंकी ओर अधिक झुकाव दिखलाई देता है।

कुंडलिया रामायणके गोस्वामी-कृत होनेमें पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यह शंका प्रकट की थी कि कुंडलिया छन्द बहुत पीछेकी सृष्टि है। गोस्वामीजी के समयमें कुंडलिया छन्द था ही नहीं, वह तो गिरिधरदास ने ढाला है। पर अनुसन्धानसे यह बात ग़लत प्रमाणित हुई है। ईश्वरदास नामक कवि ने डिंगल भाषामें "हालां झालां रो कुंडलियां" सं० १५६५ व १६७३ के बीचमें रची थी। यही नहीं, अग्रदास ने सं० १६३२ में कुंडलिया रामायणकी रचना की थी। इसके पूर्व प्राकृत पिंगलमें भी हमें इस छन्दके दर्शन होते हैं, जो कि बारहवीं शताब्दीकी रचना मानी जाती है।

इसमें मानस, पदावली आदि ग्रन्थोंसे ज्योंके त्यों पदांश रख दिये गये हैं। गोस्वामीजी ने तत्कालीन प्रचलित सभी शैलियोंका अनुकरण किया है, फिर कुंडलिया छन्दकी प्रसिद्ध शैलीको वे कब छोड़ सकते थे। अतः निश्चय ही यह गोस्वामीजी की रचना है।

विनयपत्रिका. गोस्वामी जी के भाषा-विकास-क्रमको देखते हुए यह उनकी सबसे अन्तिम रचना है। ब्रज-भाषाकी रचना होने पर भी इसमें भी तत्सम रूपों और समासान्त पदोंकी अधिकता है। इसे कुछ संकुचित विचारवाले गोस्वामीजी की सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं। पर वास्तविक बात ऐसी नहीं है। हां, अकबरी साम्राज्यके मुक़ाबिलेमें रामके साम्राज्य की भावना अवश्य पाई जाती है, जिसे भक्तिका उद्रेक अथवा संसारकी उपेक्षा अवश्य कहा जा सकता है। इसके साथ ही उन्हें मुसलमानी शासकोंसे अवश्य चिढ़ थी जिसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने अपनी इस रचनामें किया है। इसका विवेचन विनयपत्रिका का सम्पादन करते समय यथास्थान किया गया है।

उन्होंने कलियुग के वर्णन में एक प्रकारसे मुग़ल शासनका ही चित्रण किया है। इसमें गोस्वामीजी की झुँझलाहटका स्पष्ट रूप झलकता है। पर भक्तिकी दैन्य भावनाका विकास भी इसमें ख़ूब खुल कर हुआ है। इसका समय निश्चित रूपसे सं० १६६० वि० के पीछे है। कुछ विद्वानोंका कथन कि सं० १६६६ वि० में इसकी रचना हुई है, ठीक जान पड़ता है।

दोहावली. इसमें गोस्वामीजी के फुटकर दोहों व कुछ सोरठोंका संग्रह है। इसकी भाषा सतसईके दोहोंसे कहीं अधिक परिष्कृत और सुसंस्कृत है। उनमें भावोंका विस्तार और अनुभव भी गहरा है। कई दोहोंमें अन्तिम कालमें उनकी रोगग्रस्त दशाका भी चित्रण पाया जाता है। यथा——

तुलसी तनु सर सुख जलज भुजरुज गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिये कपि केसरीकिसोर॥ १॥

भुज तरु कोटर रोग अहि वरवस कियो प्रवेस।
विहगराजबाहन तुरत काढ़िअ मिटै कलेस॥ २॥
बाहु विटप सुख विहँग थलु लगी कुपीर कुआगि।
राम-कृपा-जल सींचिये वेगि दीन हित लागि॥ ३॥

दोहावली, २३४–६

इससे स्पष्ट है कि ये दोहे गोस्वामीजी के अन्तिम कालके रचे हुए हैं। शायद अन्तमें इसी रोगसे उनकी मृत्यु भी हुई है। सतसईकी रचना सं० १६४२ में हुई थी। उसमें उससे पूर्वके सब रचे दोहे शामिल हैं। तथा मानससे भी चुनकर लगभग १०० दोहे ले लिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि सं० १६४२ वि० से लेकर अन्तिम काल तक जो फुटकर दोहे इन ३८ वर्षोंमें बने हैं, उन्हींका संग्रह इस दोहावलीमें हुआ है। सम्भव है कि अन्तिम कालमें गोस्वामीजी ने स्वयं ही संग्रह करवा दिया हो अथवा उनके पीछे उनके शिष्योंने इनका संग्रह कर दिया हो, पर है निश्चित रूपसे यह उनके दोहोंका अन्तिम संग्रह।

कवितावली व वाहुक. यह भी गोस्वामीजी की फुटकर रचनाओंका संग्रह है। रामचरित्र-सम्वन्धी जितने कवित्त अपने जीवनमें उन्होंने लिखे, उन्हींका इसमें संग्रह रामचरित्रके क्रमसे कर दिया गया है। इसलिए यह ग्रन्थ काव्य-ग्रन्थके रूपमें न होकर सूरसागरके ढंग पर संगृहीत है। इसको भी मानस आदि की तरह ७ कांडोंमें विभक्त कर दिया गया है। इसमें से किष्किन्धा और आरण्य कांडमें तो एक एक ही छन्द है। इससे प्रतीत होता है कि संग्रह करते समय आवश्यक अंगकी पूर्ति कर दी गई है। अन्तिम कांडमें उनके भिन्न-भिन्न विषयोंके कवित्त भी रख दिये गये हैं, जिनसे गोस्वामीजी की जीवन-सम्वन्धी घटनाओं पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। अन्तिम ४४ छन्द तो भुज-पीड़ा-सम्बन्धी हनुमान्‌जी की प्रार्थनाके भी—जो हनुमान् वाहुकके नामसे प्रसिद्ध हैं—इसीमें जोड़ दिये गये हैं। इससे यह उत्तर कांड सब कांडोंसे वड़ा हो गया है।

यहां पर उनकी मानसिक विचारधारा और पीड़ा-विषयक तीन कवित्त दिये जाते हैं जिनसे उनकी अन्तिम कालीन परिस्थिति तथा सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक दशा का भी कुछ आभास मिल जाता है—

सामाजिक जीवन पर गोस्वामीजी कहते हैं--

बरन-धरम गयो आश्रम-निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनौ परौ सौ है।

करम उपासना कुबासना बिनासौ ग्यानु,
वचन विराग वेष जगत हरौ सौ है।
गोरख जगायौ जोगु भगति भगायौ लोगु,
निगम नियोग तें सो केलि ही छरौं सौ है।
काय मन वचन सुभाय तुलसी है जाति,
राम नाम को भरोसौ ताहि कौ भरोसौं है।

कवितावली, उत्तर कांड ८४

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी को गोरखनाथजी की योग भावना वहुत अखर रही थी, उन्होंने उसे वेद-विरुद्ध तक कह डाला है। गोरखनाथने जाति-पांति-रहित समाजकी उद्भावना की थी अतः यह भी उन्हें वहुत अखर रही थी। इसीलिए वे गोरखनाथ के ऊपर खूब ही उबल पड़े थे।

इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी अकबरकालीन नीति पर भी वह बहुत असन्तुष्ट थे। इसीलिये कहते हैं--

(१) वेद पुरान बिहाइ सुपंथु,
कुमारग कोटि कुचालि चली है।
(२) कालु कराल नृपाल कृपालु न,
राजु समाजु बड़ोई छली है।
(३) बर्न बिभाग न आश्रम धर्म,
दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।
(४) स्वारथ कौ परमारथ कौ कलि,
राम कौ नाम प्रतापु बली है।

कवितावली, उत्तर कांड ८५

कविने स्वयं ही अपने दर्दका विवेचन करते हुए बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उसका वर्णन किया है—

पांय पीर पेट पीर बांह पीर मुंह पीर
जरजर सकल शरीर पीरमई है।

देव भूत पितर करम खल काल ग्रह,
मोहीं पर दवरि दमानक सी छई है।
हौं तो बिनु मोल कौ बिकानौ बलि बारे ही तें,
ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
कुंभज के किंकर बिकल बूड़े गोखुरनि,
हाय राम राय ऐसी हाल कहूं भई है। बाहुक, ३८

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी की यह पीड़ा अनेक वर्षो तक चलती रही है। अन्तम निराश होकर वे कहते हैं—

"फूटि-फूटि निकसत लोन राम राय कौ।"

इसके बाद उनकी मृत्यु ही इसी रोगसे हो गई प्रतीत होती है, क्योंकि फ़िर उनकी अच्छी दशाका कोई उल्लेख नहीं मिलता और न कोई छन्द आदि ही लिखा गया है। एकआध स्थल पर कुछ संकेत रोगसे अच्छा होने लगनेका मिलता है, पर उससे नीरोग होनेकी भावनाका कोई आभास नहीं मिलता, अतः निश्चित ये रचनाएं अन्तिम कालकी हैं।

हनुमान् चालीसा. यह गोस्वामीजी की प्रारम्भिक रचना प्रतीत होती है। गोस्वामीजी बचपन ही से हनुमान्‌जी के परम भक्त थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर हनुमान्‌जी की मूर्तियां भी स्थापित कराई थीं। वे अलीके स्थान पर वीर हनुमान्‌को ही स्थापित करना चाहते थे। अतः स्वाभाविक है कि उन्होंने इनकी प्रार्थना अवश्य रची होगी। बाबू रामदास गौड़ भी इसे गोस्वामीजी की ही रचना मानते हैं। पुराने समयसे ही भक्तगण इसी रूपमें मानते चले आये हैं। किन्तु प्रारम्भिक रचना होनेसे साहित्यिकताका अभाव सा है। इसका कारण इसे सार्वजनिक रूप देना भी सम्भव हो सकता है। पर हम विद्वान् जनताके विवेचनकी आकांक्षा करते हैं और अभी सम्पादनमें इसे नहीं ले रहे हैं।

संकटमोचन और कलिधर्मनिरूपण, ये पुस्तकें भी गोस्वामीजी की रची कही जाती हैं। पर आभ्यन्तरिक साक्षी इसकी सहायक नहीं और न हस्तलिखित प्रतियां ही प्राचीन रूपमें मिलती हैं। अतः हमारा निश्चय है कि ये गोस्वामीजीकृत नहीं हैं।

अन्तमें यहां एक सूची प्रस्तुत है जिसमें गोस्वामीजी रचित पुस्तकें रचना-काल क्रम के अनुसार दी जा रही हैं जिससे सुगमताके साथ इस बातका पता लगाया जा सके कि उनकी कौन-कौन पुस्तकें हैं और वे किस क्रमसे लिखी गई हैं। निश्चित तिथि ज्ञात है तो उसे भी साथमें लिख दिया जा रहा है—

(१) रामलला नहछू (गार्हस्थ्य जीवन कालकी रचना)
(२) वैराग्यसन्दीपनी (गृह त्यागनेके बादकी रचना)
(३) रामाज्ञा प्रश्न (सं० १६२१ वि०, काशीमें रहकर लिखी गई)
(४) रामचरित-मानस (सं० १६३१ वि० अयोध्या व काशीमें रहकर रची गई)
(५) सतसई (सं० १६४२)
(६) जानकी-मंगल
(७) पार्वती-मंगल (सं० १६४३ वि०)
(८) गीतावली
(९) कृष्णगीतावली (काशीमें)
(१०) बरवै रामायण (काशीमें)
(११) कुंडलिया रामायण (चित्रकूटमें)
(१२) विनय पत्रिका (काशीमें बैठकर लिखी)
(१३) दोहावली (यथाअवसर फुटकर रचना सं० १६४३ से १७८०)
(१४) कवितावली और बाहुक (फुटकर रचनाएं। जीवन भरके कवित्तोंका संग्रह फिर रामायणके ढंग पर क्रम लगा दिया गया)

नोट. मेरा दृढ़ अनुमान है कि हनुमान् चालीसा भी गोस्वामीजी की ही रचना है, पर अभी हिन्दीके विद्वानोंकी विवेचना अपेक्षित है। अतः इसे संग्रहमें नहीं लिया गया।

६

अवतारवाद

दार्शनिक सिद्धान्त का वैदिक स्वरूप जीव और ब्रह्म की भिन्नता है। उसका मोक्ष दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही माना गया है। गोस्वामीजी ने सर्वत्र इसी वैदिक भावना की तीव्र भर्त्सना और घोर निन्दा की है। इस द्वैत भावना के माने जाने पर अवतारवाद की सारी भूमिका ही ढह जाती है। इसीलिए गोस्वामीजी ने इस द्वैत भाव को त्याज्य माना है। इतना होते हुए भी उन्होंने वेद की महिमा के गीत गाये हैं। पद-पद पर अपने को उसके अनुकूल बताया है। फिर भी गोस्वामीजी की विचारधारा में ९५ प्रतिशत बातें वेद-विरुद्ध हैं और उससे मेल नहीं खातीं।

इसका मुख्य कारण यही है कि गोस्वामीजी के समय में वेदों का पठन-पाठन और उनके ज्ञान की धारा लुप्त हो चुकी थी। महीधर आदि पंडितों ने वेद-मंत्रों के ऐसे गर्हित और भ्रष्ट अर्थ किये कि समाज को इन वेदों से अत्यन्त घृणा हो गई थी। इसीलिए चार्वाक आदि ने इन्हीं वेदों के विषय में कहा है—

"त्रयोवेदप्रणेतारः धूर्तभण्डनिशाचराः।"

यहां तक कि बुद्ध भगवान् ने भी कह डाला कि वेदोंके मान्य तथा अमान्य होनेके विषय में हम कुछ नहीं जानते। हमें अपना जीवन सदाचारयुक्त बनाना चाहिए। वही हमें दुःखोंसे छुड़ा सकता है। इससे स्पष्ट है कि वेदविषयक अज्ञानका प्रसार कई सहस्र वर्षोंसे हो रहा था। गोस्वामीजी भी उसी अन्धकारके युग में हुए थे, अतः वे कहां तक वेदानुकुल रह सकते थे।

यही अच्छा हुआ कि वे वेद की मर्यादाको महत्त्व तो देते थे। उन्हें गड़रियोंके

गीत तो नहीं बताया ! अत. यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि वेदोंके पठन-पाठनकी प्रणाली और उनके द्वारा सद् ज्ञानकी प्राप्ति माना स्वामी दयानन्द ने ही हमें बतलाया था। उससे पूर्व वैदिक ग्रन्थों व शास्त्रों और पुराणोंमें उक्त भाव यत्रतत्र बिखरे छिपे पड़े थे, जिनकी ओर कोई विद्वान् आंख उठा कर देखता भी नहीं था। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीसे कोई भूल नहीं हुई और उन्होंने जो कुछ कहा, सब सत्य और यथार्थ ही था। यह बात नहीं है। स्वामीजी ने सबसे बड़ा काम यह किया कि हमें विवेचनात्मक शैली का ज्ञान कराया और सत् और असत् जाननेके लिए हर बातको तर्ककी कसौटी पर कसना सिखलाया। यही उनका हम भारत-वासियोंके प्रति सबसे बड़ा एहसान है। स्वामीजी न होते तो हम अन्ध-विश्वास में भूले रहते; क्योंकि सत्पथ की पहचान व यथार्थ ज्ञानको खो बैठे थे।

गोस्वामीजी ने द्वैत (जो वैदिक सिद्धान्त था) को छोड़ कर अन्य सब दार्शनिक प्रणालियों—अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि को अपनाया था और इनमेंसे अद्वैत को तो उन्होंने अपना मुख्य सिद्धान्त ही मान लिया था।

इस द्वैत भावके तिरस्कार का एक मुख्य कारण यह था कि द्वैत सिद्धान्त के स्वीकार करने पर अवतारवाद की थ्योरी समाप्त हो जाती है। इसीलिए उन्हें बाध्य होकर अद्वैत मतका समर्थन करना पड़ा। इस विषयमें मेरा अनुमान यही है कि उनसे अनजान में ही यह भूल हुई है।

इस अवतारवाद से एक महान् अनर्थ भी हुआ है कि अननुभूत शक्तियों और असम्भव बातों के प्रयोगका खूब विस्तार हुआ।

इसीलिए राम और कृष्णको ईश्वरका अवतार बतला कर उनके द्वारा असम्भव, अनहोनी और अप्राकृतिक बातें खूब कराई गई हैं और कह दिया गया कि—"यह बड़ि बात राल कै नाहीं।" इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि मानव, जो अनुकरणशील प्राणी है, राम और कृष्णमें अलौकिक शक्ति माननेके कारण उनका अनुकरण करनेमें अपने को असमर्थ समझने लगता है। महामुनि बाल्मीकिने अपनी रामायणकी रचनामें रामको ईश्वर नहीं माना, वरन् उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम कहा है जिससे वे हमारे आदर्श थे और उनके आचरणोंसे हम अनुभूति और स्फूर्ति दोनों प्राप्त करते थे। इससे स्पष्ट है कि अवतार-वाद का सिद्धान्त समाज और देशके लिए हितकर नहीं है, बल्कि उससे भयंकर हानि हुई है। और जब तक हम इसे मानते रहेंगे, उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते और न उसके उच्च शिखर पर पहुँच सकते हैं।

इस प्रकारसे समाजके उत्कृष्ट महानुभाव अवतार-कोटिमें आ जानेके कारण भक्तिके योग्य.तो हो जाते हैं, पर उनसे हम आदर्श और स्फूर्ति नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिए भारतवासियों के लिए वेदका अनुगामी बनना ही श्रेयस्कर है।

महाकवि भूषण ने शिवाजी महाराज को ईश्वर बनाना चाहा, पर वे बन न सके और इसीसे हमारे कामकी चीज़ रह गये। इसी प्रकार कुछ लोगोंका महात्मा गांधी को भी अवतार बनानेका प्रयत्न है, पर यह भी उचित नहीं है। उन्हे आदर्श पुरुषके रूपमें ही रहने देना चाहिए जिससे हम उनसे सदैव आदर्श और स्फूर्ति प्राप्त करते रहें। यही पथ हमारे लिए सबसे अधिक कल्याणकारी है। परमात्मा देशवासियोंको सुमति दे कि वे सत्पथ का अनुगमन कर सकें।

७

मूर्तिपूजन

गोस्वामीजीने हनुमान्‌जीकी मूर्तियां स्थापित कर समाजमें वीर-पूजाकी भावनाको बल दिया। इस भावनासे गोस्वामीजीने जहां हिन्दू संस्कृतिकी रक्षाके लिए एक आदर्श स्थापित किया वहां अखाड़ोंमें प्रचलित "अली" के स्थान पर हनुमान्‌जीको रखकर एक स्वतंत्र और अधिक प्रभावशाली विचारधारा देनेका प्रयत्न किया है।

किन्तु गोस्वामीजीने हनुमान्‌जीको मानव न रखकर बन्दरके रूपमें चित्रित किया है। इसीसे उनके पूंछ भी बनवाई गई है। वास्तवमें वे वानर जातिके दक्षिणी ट्राइब्समें से थे। वे आदर्श ब्रह्मचारी, शिक्षित, सदाचारी और आस्तिक थे। अतः मानव रूपमें ही उनका आदर्श हमारे लिए अधिक उपयोगी है।

मूर्तिपूजाके विषयमें जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है, उस पर भी विचार कीजिए। वे कहते हैं—

"काढ़ि कृपान कृपा न कहूं,
पितु काल कराल विलोकि न भागे।
'राम कहां?' 'सब ठाउँ हैं' 'खम्भ में,'
'हां' सुनि हांक नृकेहरि जागे।
बैरि बिदारि भये विकराल,
कहे प्रहलादहि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब,
ते सब पाहन पूजन लागे।"

कवितावली, उत्तर कांड, छन्द १२८

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी नृसिंह अवतारके समयसे पत्थर-पूजा (मूर्तिपूजा) मानते हैं। यद्यपि इसमें ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, फिर भी गोस्वामीजीकी एक स्पष्ट भावना अवश्य है, और इससे लोक-कल्याणकी विचारधाराको अवश्य बल मिलता है। पर इसमें भी सुधारकी आवश्यकता है। मूर्तिकी कल्पनामें आदर्शकी ओर विशेष ध्यान होना चाहिए। उस मूर्तिकी सफ़ाई और सजावटका विचार तो रखा जाय, पर पूजन आदि द्वारा उसे विकृत कदापि न किया जाय। आजकल तरह-तरहके विधानों द्वारा उन मूर्तियों को बहुत ही विकृत कर दिया जाता है।

अच्छे रूपमें ही हम आदर्शका अनुकरण करनेमें समर्थ हो सकते हैं। मूर्तिके प्रति तो हमारा आदरका भाव अवश्य हो, पर साथ ही उसके गुणोंको अपनेमें लानेकी चेष्टा पर ही जीवनका उत्कर्ष सार्थक बनाया जाय।

जिस प्रकार चित्रसे हम व्यक्तिके गुण और चरित्रकी ओर आकृष्ट होते हैं उसी प्रकार मूर्तिसे भी होना चाहिए। उनसे लड़ाई जीतनेके लिए, सन्तान-प्राप्ति आदिके लिए प्रार्थना करना अनुचित है। हमें तो उनसे वाह्य और आभ्यन्तरिक सद्गुणोंको ग्रहण करना ही उचित और पर्याप्त समझना चाहिए।

भास कविने प्रतिमा नाटकमें राजा दशरथ आदिकी मूर्तियोंका जो चित्रण किया है उससे विदित होता है कि विक्रम पूर्व ३-४ शताब्दीसे पहले मूर्तिपूजनका भारतमें विधान नहीं था। यह भावना शकोंके आनेपर उनके साथ भारतमें आई है।

शकोंके यहां राजाके मरने पर उसकी मूर्तिकी स्थापना होती थी। पर उसकी पूजाका विधान न था। सबसे प्राचीन मूर्ति मथुराके अजायबघरमें 'अज उदयन' की मूर्ति है जो ईसा से तीन-चार शताब्दी पूर्व हुआ था। इससे स्पष्ट है कि भारतमें मूर्तिपूजाका विधान प्राचीन नहीं है। गोस्वामीजीके "सगुन उपासक मोक्ष न लहहीं।" कथनसे भी यही ध्वनि निकलती है। अतः मूर्तिपूजाके यथार्थ स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा।

८

शैव और वैष्णव

गोस्वामीजीने शैवों और वैष्णवोंके पारस्परिक विरोधको दूर करनेका सफल प्रयास किया है। उन्होंने राम द्वारा शिवकी स्थापना व आदर और शिव द्वारा रामकी आराधना कराकर दोनोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है। इससे पूर्व अध्यात्म रामायणमें भी ऐसा ही विधान मिलता है। महात्मा सूरदासजीने भी अपने पदोंमें इन दोनों सम्प्रदायोंके मेल पर अधिक बल दिया है, और विष्णु, शिव, राम, कृष्ण सबको एक ही बतलाया है।

गोस्वामीजीने रामके द्वारा कहलाया है—

शिवद्रोही मम दास कहावैं।
ते नर सपनेहु मोहि नहिं भावैं।।

रामचरित मानस

तथा—

"बहु कल्प उपाय करिय अनेक।
बिनु शम्भु कृपा नहिं भव विवेक।।"

विनयपत्रिका, १३

इससे स्पष्ट है कि श्रीरामचन्द्रजी शिवजीको आदरणीय और पूज्य मानते थे। इसी प्रकार—

"भुवन भवदंस कामारि वंदित पद-
द्वन्द्वमन्दाकिनी - जनक - जिय रंगो।"

विनयपत्रिका, ५४

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी रामको शिवजीका आराध्य मानते और कहते थे। राम के द्वारा शिवजीकी स्थापना भी इसी भाव की द्योतक है। इस विषयके बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं, तुलसी-ग्रन्थावलीके तीसरे भागमें हम विस्तारसे इसका विवेचन करेंगे।

६

स्त्री और शूद्र समाज

वैदिक कालमें स्त्री-समाजको पुरुषोंके समान ही प्रतिष्ठा थी। ये दोनों एक दूसरेके सखाके रूपमें चित्रित किये गये हैं। और शूद्रोंके प्रति भी मानव-समाज और ब्राह्मण तक में आदरका भाव रहता था। उन्हें ब्राह्मण और महर्षि तक बननेका अधिकार था। उस कालमें वर्णव्यवस्था कर्मानुसार थी, आजकल की तरह जन्मपरक नहीं मानी जाती थी। इसीलिए सबमें समान भावना और समताका स्वरूप खूब प्रसार पा रहा था। यहां तक कि—

"सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहे।"

के रूपमें खान-पान, रहन-सहन एक था और मिलकर संगठित रूपमें साथ-साथ एकदिल होकर सब काम करते थे।

इसी प्रकार—

"शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्।"

के कथनानुसार ऊंचे चढ़ने व पतनके स्वरूपमें सबके लिए क्षेत्र तैयार था। परन्तु कालान्तरमें—"स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्।" की भावना काम करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि ये दोनों ही दास श्रेणीमें गिने जाने लगे।

गोस्वामीजीके समयमें भी यही भावना ज़ोरोंसे काम कर रही थी। अज्ञान बढ़ने से ये दोनों ही मियां मदार, भूत, प्रेतादिकी पूजामें निरत थे, जिसकी चर्चा हम पिछले भागमें कर आये हैं। इसीलिए गोस्वामीजीने—

"पूजिय विप्र शील-गुनहीना।
नहीं शूद्र गुन-ज्ञान-प्रवीना।"

की बात तक कह डाली है और इस विषयमें वे साधारण सीमा पारकर स्त्री समाजमें ८ स्थायी दोषोंको दिखलानेमें भी नहीं चूके हैं। यथा—

"साहस अनृत चपलता माया।
भय अविवेक अशौच अदाया।"

इसी प्रकार शूद्रोंके बारेमें भी—

"जे बरनाधम तेलि कुम्हारा।
श्वपच किरात कोल कलवारा।।
नारि मुई घर सम्पति नासी।
मूड़ मुड़ाय भये सन्यासी।।
ते विप्रन सन पांय पुजावहिं।
उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।"

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी शूद्र और स्त्री दोनोंको ही घोर पतित और घृणित मानते थे। उनका समाजमें भी नाममात्र आदर नहीं रहा था। यहां तक कि उन्हें छूना भी पाप समझा जाता था। इससे हम सरलतया गोस्वामीजीके समयकी परिस्थिति और दशाका अनुमान कर सकते हैं। साथ ही समाजकी इसी गिरी दशामें रहनेके लिए गोस्वामीजीने भी उन्हें मजबूर रखा था। उन्हें सुधारनेका कोई प्रयत्न इन्होंने नहीं किया। वरन् इनसे उक्त दोनों समाजोंको धक्का ही लगा।

कुछ लोगोंका कथन है कि सब स्त्रियोंकी गोस्वामीजीने निन्दा नहीं की। केवल मन्थरा आदि दुष्ट स्त्रियोंके विषयमें निन्दनीय बातें कही हैं। उन्होंने तो कौशल्या, सुमित्रा, सीता आदिके चरित्रोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पर यह कथन सत्य नहीं है। इन लोगों की रामके सम्बन्धमें प्रशंसा अवश्य की है, पर वह इन्हीं तक सीमित है। अन्योंके लिए नहीं है। लेकिन मन्थरा, कैकेयी आदिकी निन्दा करते हुए उसे सब स्त्रियोंके लिए नियम रूपमें लागू किया है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी भी स्त्रियोंको घृणित और पतित मानते हैं।

इसी भांति शूद्रोंके बारेमें भी समझना चाहिए। निषाद, शबरी आदिको तो वे रामके

सेवकके नाते प्रशंसनीय कहते हैं। पर यथार्थमें वे सभी शूद्रोंको गर्हणीय और पतित मानते हैं। इसीसे वे सिद्धान्त रूपमें कहते हैं--

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥ (मानस)

इस प्रकार गोस्वामीजीकी भावना स्पष्ट है। शूद्र और स्त्रियां दोनों ही उस ज़माने में बड़ी तेज़ीसे मुसलमान हो रहे थे। इसीलिए गोस्वामीजी ने उनकी अपने ग्रन्थोंमें खूब भर्त्सना और निन्दा की है।

१०

गोस्वामीजी और मुसलमान

परिस्थितिमें दिखलाया गया है कि उस समयका शासन बहुत अच्छा था। अकबर और उसके दरबारी हिन्दू-मुस्लिम मेलको सार्थक बना रहे थे। विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये जा रहे थे। अब्दुल रहीम खानखाना जैसे मंत्री हिन्दू संस्कृति पर दिलोजानसे निछावर हो रहे थे। वे हिन्दी और संस्कृतमें ऐसी सुन्दर रचना करते थे कि हिन्दी का शायद ही कोई कवि वैसे सुन्दर दोहे रच सका हो।

अकबर के दरबारमें खानखानाके सिवा राजा पृथ्वीराज, नरहरि महापात्र, राजा बीरबल, होलराय, गंग, दुरसाजी आदि अनेक उत्तम कवि विद्यमान थे जिनको अकबर से प्रशंसा, धन, सम्मान और दाद मिला करती थी। इस सत्संगका परिणाम यह हुआ कि अकबर भी कुछ कविता हिन्दीमें करने लगा था। वह स्वयं कभी-कभी हिन्दू वेषमें तिलक आदि लगा कर दरबारमें बैठता था। शासनमें महाराजा मानसिंह और टोडरमल यही मुख्य थे। इससे स्पष्ट है कि अकबर सच्चे हृदयसे हिन्दू समाजमें आना चाहता था, पर गोस्वामीजी की साहित्यिक साधनाने उस पर हड़ताल फेर दी। वल्लभ सम्प्रदायने भी अकबर का समर्थन किया था। महात्मा सूरदास को तो अकबर मित्र ही मानता था। पर गोस्वामीजी का समर्थन उसे न मिल सका। यद्यपि महाराज मानसिंह कुमार जगतसिंह के साथ गोस्वामीजी की सेवामें उपस्थित हुए थे, पर उसका परिणाम भी कुछ अनुकूल नहीं हुआ। कुछ अधिक वृद्ध होने पर वे और भी चिढ़े-से जान पड़ते हैं। इसीलिए उन्होंने उस समयकी रचनामें और भी कटुता भर दी है--

"काल कलि जनित मल मलिन मन सर्व नर,
मोह निसि निविड़ यवनाधिकारं॥"
(विनयपत्रिका, पद ५२)

इससे भी स्पष्ट है कि मुग़ल शासन ही कलियुग है, इसके प्रभावसे सब मनुष्य मलिन मन और मोहरूपी रात्रिके घने अन्धकार सम मुसलमानी शासनसे ग्रस्त हैं। यों हम सरलतासे गोस्वामीजी की भावनाका अनुमान कर सकते हैं।

विनयपत्रिकामें ही ये भाव व्यक्त नहीं हुए, कवितावलीमें भी उन्होंने ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। यथा—

वेद पुरान विहाइ सुपन्थ,
कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल नृपाल कृपाल न,
राजसमाज बड़ोई छली है।
(कवितावली, उत्तरकांड, छन्द ८५)

अर्थात् सब लोग वेद-पथ छोड़ कुमार्ग पर चल रहे हैं। करोड़ों कुचाल चली जा रही हैं। समय बड़ा भयंकर है। बादशाह दयालु नहीं है, और उनके मंत्री, सूबेदार आदि बड़े ही छलिया हैं। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने एक शाही कर्मचारी करोड़ीकी शरारतों पर सारे राजसमाज और बादशाह तक को फटकार डाला है।

इसी अत्याचारको सूरदास ने एक पत्रमें समाप्त कर दिया और उस करोड़ी को खड़े-खड़े निकलवा दिया। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी शान्तिपूर्वक समझौता नहीं करना चाहते थे। उन्होंने तो जनतामें उत्तेजना फैलानेके विचारसे ही अपनी रचना की है। शान्ति और सुखमय भावना लानेका विचार शायद उनके मनमें नहीं था।

गोस्वामीजी निश्चय ही सदाचारी और विद्वान् थे। कवित्व शक्ति अच्छी थी। पर न तो उनमें समन्वय की भावना थी और न समाजको उठानेकी विचारधारा उनमें काम कर रही थी। उनका संगठन मुसलमानोंके प्रति विद्रोह रूपमें ही खड़ा किया गया था। इसीलिए उन्होंने सब दार्शनिक विचारोंको एक संगठनमें लानेका उद्योग किया और सबको वेदानुकूल ठहराया, यद्यपि उनमें से एक भी वेदके अनुसार न था। जो द्वैत मार्ग वेदके अनुकूल था उसे ही त्याज्य ठहराया है। इससे हम सरलतया गोस्वामीजी की जानी

या अनजानी ग़लतीका अनुमान कर सकते हैं। मेरे विचारसे यह गोस्वामीजी की भयंकर भूल थी, जिसने देश और राष्ट्रको अत्यन्त हानि पहुँचाई। यह ठीक है कि उनकी रचनासे समाजका कल्याण भी हुआ। गृहस्थ जीवनके लिए अच्छा आदर्श मिला और राम-भक्तिके प्रसारसे सदाचारकी प्रवृत्तिका विस्तार हुआ, पर वैराग्यकी भावना तीव्र होनेके कारण समाजके लिए वह भक्ति वैसी हितकारी नहीं प्रमाणित हो सकी जैसी कि महाकवि भूषण की रचना। उससे समाजको महत्त्व मिला और उसने लोक-कल्याणकी भावनासे सारे देशको प्रभावित कर दिया।

सूर और तुलसी की विचारधाराकी तुलना करनेसे भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। सूर की विचारधारामें कुछ श्रृंगारिक गहरी भावना आ जानेसे वह अवश्य अहितकारी सी थी, पर राष्ट्रीय दृष्टिसे सूरका अधिक महत्त्व है। उसके मुक़ाबिलेमें गोस्वामीजी की रचनामें वैराग्यकी तीव्रता और मुसलमान-विरोध होनेके कारण वह समाजके लिए अधिक लाभकारी नहीं है। हां, भक्ति की परिष्कृत साधना तथा आदर्श चरित्रसे समाजका कुछ कल्याण अवश्य हुआ है। पर सूर की तुलनामें वह बहुत कम माना जायगा। इसीलिए विद्वानोंने —

"सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करैं प्रकास।

की उक्तिको सार्थक रूप दे दिया है। आशा है, हिन्दी-भाषी-समाज तुलसीदास की रचनाओंको अन्धभक्तकी तरह न पढ़कर विवेचनात्मक प्रणाली पर उसका अध्ययन करेगा।

कवि का वास्तविक स्वरूप तभी सामने आता है जब कविकी तुलनाके लिए उसी कोटिके कवियोंका साथ-साथ अध्ययन करें। इसके लिए हम हिन्दीप्रेमियों और साहित्यानुरागियोंके आगे दो नाम उपस्थित करते हैं जिनके अध्ययनसे हम अपने चरित्रनायक की प्रतिभा, उपयोगिता और साहित्य-गरिमाका ठीक-ठीक अनुमान कर सकते हैं। ये दोनों महाकवि (१) महात्मा सूरदास और (२) महाकवि भूषण हैं।

इन तीनों कवियोंने अलग-अलग लाइन पर काम करते हुए भी देश और समाज-हित की भावनासे प्रेरित होकर ही अपनी-अपनी रचनाका प्रसार किया है। इनमें से जिसकी भावनामें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का स्वरूप अधिक परिष्कृत पाया जाय वही अधिक अच्छा कवि

है। यह निर्णय हम विद्वान् पाठकों पर छोड़ते हैं। पर गोस्वामीजी की रचनामें पूत भावनाका बाहुल्य होनेके कारण उसे भी समाजके लिए बहुत उपयोगी मानते हैं। फिर भी विवेचनात्मक प्रणालीके अध्ययनकी सलाह अवश्य देना चाहते हैं। आशा है, हमारी इस प्रार्थनाको साहित्यसेवी विद्वन्मंडली अवश्य स्वीकार करनेकी कृपा करेगी।

११

जीवन-वृत्त

गोस्वामीजी के जीवनचरित्र पर हिन्दी-संसारमें घोर मतभेद दिखलाई देता है। यह मतभेद नया नहीं है। बल्कि गोस्वामीजी की मृत्युके कुछ समय बाद ही प्रारम्भ हो गया था। किसी ने उन्हें सोरोंका निवासी मानकर सनाढ्य ब्राह्मण बनानेका प्रयत्न किया है, कोई उनको सरयूपारीण ब्राह्मण दिखलानेका उद्योग करता प्रतीत होता है, तो किसी ने उन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाया है। बाबा रघुवरदास, वल्लभसम्प्रदाय और बाबा बेनीमाधवदास की रचनाएं इसी कोटिमें आती हैं। इस खींचातानीमें उनका वास्तविक स्वरूप लुप्त हो गया है। अतः हमें इन बाहरी विवरणों पर भरोसा करनेका साहस नहीं होता, क्योंकि इनमें से किसी एकको आधार मानकर चलनेसे कुछ न कुछ पक्षपातकी गन्ध आये बिना नहीं रह सकती। इसलिए इन बाहरी साधनोंका एकदम परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर होगा।

गोस्वामीजी के भक्तोंने एक बात और भी कर डाली है। उनकी महिमा बढ़ानेके लिए सैकड़ों असम्भव, अनर्गल और व्यर्थकी करामातें व घटनाएं उनके जीवनके साथ जोड़ कर उन्हें साधारण मानवसे भिन्न बना डाला है। इससे उनकी जीवनसम्बन्धी बातोंका अधिकांशतः विज्ञानसे कुछ भी मेल नहीं खाता। अतः हमें ऐसे कथनों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। एक बात यह भी प्रतीत होती है कि गोस्वामीजी स्वयं अपने विषयमें उक्त करामातोंका प्रसार देखना चाहते थे, जैसा कि उन्होंने अपनी रचनाओंमें स्वयं दिखलानेका प्रयत्न किया है। देव, भूत-प्रेत आदिकी साधना व सफलता दिखलाना इसी कोटिके अन्तर्गत है। गोस्वामीजी की यह भावना मुसलमानी प्रभावका परिणाम है,

क्योंकि मौलवी, हाफ़िज, हाजी, मुल्ला, आलिम फ़ाज़िल तथा साधारण मुसलमान, सभीमें यह विचारधारा पर्याप्त मात्रामें दिखलाई देती है।

गोस्वामीजी का सबसे अधिक प्रयत्न यही था कि मुसलमानी धर्म और समाजके आक्रमणसे हिन्दू जातिकी रक्षा की जाय। इसके लिए इन्होंने विभिन्नताका मार्ग अपनाया तथा अपने ढंगसे उसका निर्वाह किया। इसीके बल पर वे हिन्दूसमाजकी रक्षा करना सही व उचित समझते थे। इसीलिए गोस्वामीजी ने ब्राह्मण शिष्यों द्वारा उन्हें खूब धन दे-देकर अपनी रामायणका प्रचार करवाया था।

गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओंमें निज जीवन-सम्बन्धी बातोंकी चर्चा कम ही की है। फिर भी प्रसंगवशात् जो जो बातें उनकी लेखनीसे निकल पड़ी हैं उन्हें वैज्ञानिक छलनीमें छानकर उसी आधार पर कुछ जीवनविषयक बातें निष्कर्ष रूपमें प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता है।

सबसे प्रथम हम यह देखना चाहते हैं कि वे किस प्रान्त और स्थानके निवासी थे? कहां उत्पन्न हुए थे? शिक्षा-दीक्षा कहां हुई थी? उनकी विचार-धाराका विकास किस क्रमसे हुआ?

गोस्वामीजी का सबसे प्रथम ग्रन्थ 'रामलला नहछू' है। इसकी भाषा अवधी है। इनके प्रारम्भिक जीवनकी अधिकांश रचनाएं भी अवधीमें ही हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरित मानस भी अवधीमें ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे ऐसे प्रान्त व स्थानके निवासी थे, जहां पर अवधी भाषा बोली जाती थी, क्योंकि उस पर इनका अधिकार मातृभाषा जैसा ही दिखलाई देता है। इससे उनकी जन्मभूमि अवध प्रान्तमें ही होना अधिक सम्भव है, और उनका प्रारम्भिक जीवन भी इसी प्रान्तमें व्यतीत हुआ जान पड़ता है।

गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओंमें मछली व मांसके भोजनका विधान रखा है और दही-चिउरा का प्रयोग व भात खानेकी परम्परा दिखलाई है। मेहमानीमें भी इसीकी मुख्यता रखी है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि वे ऐसे प्रान्तके निवासी थे जहां इन चीज़ोंका व्यवहार साधारणतया होता रहता है। इससे उन्हें अवध प्रान्तका निवासी बतलाना ठीक ही जान पड़ता है। गोस्वामीजी ने ब्रजभाषामें भी बहुत सी रचनाएं की हैं। किन्तु यह भाषा राष्ट्रभाषाके रूपमें देशमें सर्वत्र प्रचलित थी। ब्रजभाषामें अधिकतर शृंगारी रचनाएं तत्कालीन कवि करते थे। गोस्वामीजी को वृद्धावस्थामें रोगोंने बहुत घेर लिया था, इससे वे अन्तिम कालमें कठिन दुःख झेलते रहे थे।

गोस्वामीजी कहते हैं—

"मोह मद मात्यौ रात्यौ कुमति कुनारि सों,
विसारि वेद लोक लाज आंकरो अचेतु है।
भावै सो करत मुंह आवै सो कहत,
कछु काहू की सहत नाहिं सरकस हेतु है।।" क० उ०, ८२

इससे भी गोस्वामी सम्बन्धी उक्त भावोंका प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। गोस्वामीजी से बहुधा लोग उनकी जाति, वंश, स्थान, गोत्रादिके विषयमें प्रश्न करते थे, पर वे सदैव इन बातोंको छिपानेका प्रयत्न किया करते थे। अधिक आग्रह पर चिढ़कर कहते थे—

"मेरे जाति पांति न चहौं काहू की जाति पांति,
मेरे कोऊ काम कौ न हौं काहू के काम कौ।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम कौ।।
अति ही अपाने उपखानो नहिं बूझें लोग,
साह ही को गोत गोत होत है गुलाम कौ।
साधु कै असाधु कै भली कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम कौ।।" क० उ०, १०७

इससे विदित होता है कि उनकी जाति अवश्य सन्दिग्ध थी, तथा लोगोंको इस बातका भी पता नहीं था कि वे कहांके निवासी थे। इसीसे उनके सम्बन्धमें बहुत सी विचारधाराएं प्रवाहित हो रही थीं। उन किंवदन्तियों पर कदापि विश्वास नहीं किया जा सकता।

सन्तसमागम द्वारा तथा भ्रमण दशामें राष्ट्रहितकी दृष्टिसे वह व्रजभाषाको अपना चुके थे। काशीमें निवास करते समय ही उनकी रचनाएं व्रजभाषामें अधिक हुई प्रतीत होती हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनकी मातृभाषा अवधी थी। उन्होंने राष्ट्र-भाषाके रूपमें ही व्रजभाषाको अपनाया था।

गोस्वामीजी ने रामचरित-मानसमें एक दोहा कहा है—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तस बालपन तब अति रहेउ अचेत॥ मानस-बालकांड,४६

यह शूकरक्षेत्र भी अवध प्रान्तवाला ही हो सकता है। भरतकूपके समीप गोंडा जिलेमें एक शूकरक्षेत्र प्रसिद्ध है। अतः गोस्वामीजी द्वारा उक्त दोहेमें वर्णित शूकरक्षेत्र वही हो सकता है।

कुछ सज्जनोंने सोरोंको उक्त शूकरक्षेत्र माना है और इसी आधार पर वे गोस्वामीजी को सोरोंका निवासी मानते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि यह क्षेत्र गंगाके किनारे पर बसा हुआ है। पर गोस्वामीजी ने न तो शूकरक्षेत्रके साथ गंगाकी चर्चा की है और न उसकी प्रसिद्धिका ही उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि इस उल्लेखसे गोस्वामीजी का संकेत साधारण शूकरक्षेत्रकी ही ओर है। फिर अवधवासी होनेके कारण उसी प्रान्तके शूकरक्षेत्रसे उनका सम्बन्ध होना अधिक सम्भव है। सम्भवतः ८-१० वर्षकी अवस्थामें ही वे अपने गुरुके पास उक्त शूकरक्षेत्रमें पहुँच गये थे।

गोस्वामीजी ने अपने विषयमें स्वयं कहा है—

"भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहिकैं।
करुना तजिकैं परुषा बरषा हिम मारुत घाम सदा सहिकैं॥"
कवितावली, उत्तर कांड, ३३

इससे विदित होता है कि गोस्वामीजी को भारत भूमिमें जन्म लेनेका गर्व था तथा "भले कुल जन्म" से भी उनके उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेका पता चलता है। इनका शरीर भी हृष्टपुष्ट, सुडौल और सुन्दर था। इनका जो चित्र प्रह्लादघाट (काशी) से मिला है उससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। इस छन्दसे ब्राह्मणवंशी होनेका भी पता चलता है। काशी और शूकरक्षेत्रमें जो समाज इन्हें मिला हुआ था वह भी सभ्य और श्रेष्ठ था।

बचपनका चित्रण करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

"कुस गात ललात जो रोटिन कौं, घरुआत घरे खुरपा खरिया।
तिन सोने के मेरु से ढेर लहे, मन तौन भरौ घर पै भरिया॥

तुलसी दुख दूनों दसा दुहुँ देखि कियो मुख दारिद कौं करिया।
तजि आस भो दास रघुप्पति कौ, दसरत्थ कौ दानि दया दरिया।।"

कवि०, उ०, ४६

इससे प्रकट होता है कि बचपनमें ये अत्यन्त दुबले थे, और रोटियोंके लिए लालायित फिरते थे। फिर खुरपी खरिया (घास बांधनेकी झोली) लिए घर-घर कामके लिए घूमते फिरते थे। ऐसे तुलसीदास को भक्ति व प्रतिभाके कारण सुमेरु पहाड़ जैसा सोनेका ढेर महाराज मानसिंह से मिला था, इससे सारा घर सम्पत्तिसे भरपूर हो गया था। इससे इनके बचपन व युवावस्थाके उतार-चढ़ावका अच्छा पता लग जाता है।

गोस्वामीजी अपने जन्म-काल की दशाका चित्रण करते हुए लिखते हैं—

मातु पिता जग जाय तज्यौ विधिहू न लिखो कछु भाग भलाई।
नीच निरादर-भाजन कादर कूकर टूकन लागि ललाई।।
राम-सुभाउ सुन्यौ तुलसी प्रभुसों कह्यौ बारक पेट खलाई।
स्वारथ कौं परमारथ कौं रघुनाथ सौ साहब खोरि न लाई।। क०, उ०, ५७

वह कहते हैं कि मेरे माता-पिता ने पैदा होते ही मुझे त्याग दिया था। ब्रह्मा ने भी भाग्यमें कुछ भलाई नहीं लिखी थी। इसलिए मैं जो नीच अपमानका पात्र बना हुआ कुत्तेके समान टुकड़ोंके लिए लालायित मारा-मारा फिरता था उसे रामकी कृपासे स्वार्थ और परमार्थ सब कुछ मिल गया।

परस्थितिने फिर पलटा खाया। तब अत्यन्त दुःखित हो उन्होंने देवी-देवताओं आदिकी प्रार्थना की, पर यह बिगड़ी दशा न सुधर सकी। इसीसे खिन्न हो वे अपने वंशका परिचय देते हुए कहते हैं—

"जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक कौं।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक कौं।।" क०, उ०, ७३

इससे पता चलता है कि गोस्वामीजी ब्राह्मण-वंशमें ही उत्पन्न हुए थे, जो सम्भवतः पंडिताई (आचार्य वृत्ति) करते थे। इनके पैदा होने पर जब आनन्द मनानेकी बात उठी

ती माता-पिताको दुःख और कलंक दोनोंकी सम्भावना प्रत्यक्ष हुई। इससे प्रतीत होता है कि वे जारज सन्तान थे। इसीसे इनका इनके माता-पिता ने परित्याग कर दिया था। इसमें बधावनेकी बातसे यह भी अनुमान होता है कि इनके माता पिता इस पापको छिपाना चाहते थे, पर यह गुप्त बात प्रकट हो ही गई, जिससे उन्हें इनका परित्याग करना ही पड़ा था। इसके फलस्वरूप इन्हें बचपनसे ही लालायित फिरना पड़ा था, और यह मुट्ठी भर चनोंको ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके समान समझते थे। इसीसे इनकी दीनता का अनुमान आप कर सकते हैं।

गोस्वामीजी ने अपना नाम 'रामबोला' बतलाया है।—

"रामबोला नाम हौं गुलाम राम साहि कौ।" क०, उ०, १००

इससे यह अनुमान लगाना भी स्वाभाविक ही है कि बचपनसे ही इनके हृदयमें रामभक्तिके अंकुर फूट चुके थे। सम्भवतः इसी भावनाके प्रतापसे तथा बुद्धिकी प्रखरताके कारण गुरु नरहरिदास ने इन्हें अपना शिष्य बना लिया था। इसका उल्लेख उन्होंने मानसमें किया है—

"बन्दौं गुरु-पद-कंज, कृपासिन्धु नररूप हरि।
महा मोह तमपुंज जासु बचन रवि-कर-निकर॥ मानस, बाल०

गुरुजी अच्छे शिक्षित थे। उन्होंने इन्हें संस्कृतकी शिक्षा दी और रामायण आदि धार्मिक व पौराणिक ग्रन्थोंकी कथाएं सुनाते रहे। इसके बाद सम्भवतः इन्होंने काशीमें जाकर अध्ययन किया था जिससे इनकी प्रतिभाका अच्छा विकास हुआ, और धार्मिक संस्कार उच्च कोटिके बन गये, जिनमें तत्कालीन राजनीतिका पुट भी मिला हुआ था। सम्भवतः काशीमें ही जीवन व्यतीत करते हुए वे गुसाईं (शैवमत में दीक्षित) हो गये थे और मठाधीश होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगे थे। इस बारेमें उन्होंने स्वयं कहा था—

"बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो,
रामनाम लेत मांगि खात टूक टांक हौं।
परचौ लोकरीति में पुनीत प्रीति राम राय,
मोह बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं॥

खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।।
तुलसी गुसाईं भयौ भौंड़े दिन भूलि गयौ,
ताकौ फल पावत निदान परिपाक हौं।। बाहुक, ४०

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भमें वे रामभक्त थे, फिर शैव होकर मठाधीश बन गये थे। उस समय आचरणहीनता भी उनमें भर गई थी, परन्तु हनुमान् का आदर्श ग्रहण कर लेनेसे, समाज-सुधार, हिन्दू जातिकी रक्षा और राम की पवित्र भावनाके कारण इनका परिष्कार हुआ और फलस्वरूप हृदयसे कलुपित भाव दूर हो गये और इनका चरित्र शुद्ध हो गया। गोस्वामीजी ने अपनी युवावस्थाकी भूलों और अपनी चरित्रभ्रष्टताका भी परिचय एक छन्दमें दिया है। वे कहते हैं—

"विषया पर नारि-निसा तरुनाई, सु पाप परौ अनुरागहि रे।
जम के पहरू दुख रोग बियोग बिलोकत हू न विरागहि रे।।
ममता-बस तैं सब भूलि गयो भयो भोर महा भय भागहि रे।
जरठाई दिसा रबि काल उग्यौ अजहूं जड़ जीव न जागहि रे।।"
कवितावली, उत्तर०, ३१

जिस स्थान, वंश, जीवन और परिस्थितिसे यदि किसी व्यक्तिका सम्बन्ध रहता है तो उनका प्रभाव भी उसके ऊपर पड़े बिना नहीं रह सकता। उसकी परम्पराएं, प्रथाएं और सांस्कृतिक भावनाएं अवश्य उसके साथ सन्निविद्ध हो जाती हैं। गोस्वामीजी भी इसके अपवाद नहीं थे। इसीलिए वंश-विषयक कुछ बातें उनके मुंहसे अनायास प्रकट हो गई हैं। वे कहते हैं—

"कबहुँ न डिग्यो निगम मगतें पग, नृग जग जान जिते दुख पाये।
गज धौं कौन 'दिछित' जाके सुमिरत लै सुनाभ बाहन तजि धाये।।"
विनयपत्रिका, २४०

और भी—

"व्याध अपराध की साध राखी कौन, पिंगला कौन मति भक्ति भेई।
कौन धौं सोमयाजी अजामिल अधम, कौन गजराज धौं 'बाजपेई'।।"
विनयपत्रिका, पद १०६

इन दोनों पदोंमें दीक्षित और बाजपेयी आस्पदोंका प्रयोग किया गया है। ये दोनों आस्पद कान्यकुब्जोंमें ही होते हैं। न तो सनाढ्योंमें ये आस्पद मिलते हैं और न सरयूपारियोंमें। अतः निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि जिस वंश और परिस्थितिमें उनका जीवन व्यतीत हुआ और जिस परिस्थितिमें उनका पालन-पोषण हुआ था, वह कान्यकुब्ज कुल ही था। सनाढ्यों में तो ये आस्पद थे ही नहीं; उनमें तैनगुरिया, करैया, दैपुरिया, दूरबार जैसे आस्पद मिलते हैं। इधर हालमें ही कान्यकुब्जोंके अनुकरण पर कुछ आस्पद उनमें भी बने हैं, पर उनमें बाजपेयी जैसे प्रयोग नामको भी नहीं हैं। सरयूपारीणोंमें भी बाजपेयी व दीक्षित आस्पद नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि गोस्वामी तुलसीदासका सम्बन्ध कान्यकुब्जोंसे अवश्य था, और अधिक सम्भव है कि वे कान्यकुब्ज ही हों।

गोस्वामीजी ने विनयपत्रिकाके एक पदम 'सुकुल' शब्दका प्रयोग किया है। वे कहते हैं—

"दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि कौ।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि कौ॥
यह भरतखंड, समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।"

इससे पता चलता है कि वे 'सुकुल' वंशमें पैदा हुए थे। सम्भव है, इससे उनका आशय अच्छे वंशसे हो। इनका शरीर भी सुन्दर था। इन दोनों गुणोंसे ही वे अपनेको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो फल पानेका अधिकारी मान लेते हैं। इससे विदित होता है कि उनकी जन्मपरक वर्णव्यवस्थाकी भावना कितनी प्रबल थी। काशीमें रहते हुए गंगाजीके पुण्यस्थल और सभ्य समाजकी भी उन्होंने चर्चा की है।

वृद्धावस्थामें गोस्वामीजी की दाहनी बांह झूठी पड़ गई थी। फिर उसीमें पीड़ा, वलतोड़, गिल्टी आदि रोग भी हो गये थे। इसीसे वे कहते हैं—

"बाहुकी वेदन बांह पगार पुकारत आरत आनँद भूलो।
श्री रघुबीर निवारिए पीर रहौं दरबार परौ लटि लूलो॥"

बाहुक, छन्द ३६।

इसके साथ ही फिर कहते हैं—

"सोई बांह गही जो गही समीर-डावरे।"

बाहुक, ३७

इससे स्पष्ट ह कि उनकी दाहनी बांहमें अत्यन्त पीड़ा हुई थी और लगभग २० वर्ष तक अन्तिम कालमें यही दशा रही। इस पीड़ासे व्यथित होकर गोस्वामीजी बहुत अधिक चिड़चिड़े हो गये थे और कहने लगे थे—

"सोई है खेद जो वेद कहै न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।" कविता, उ०, ६०
तथा—"मेरी ओर हेरि कैं न बैठिए रिसाय कैं।
पालिकैं कृपालु व्याल-बालकौ न मारिए,
औ काटिए न नाथ! विषहू कौ तरु लायकैं।" क०, उ०,६१

इस प्रकार वह वेद और शास्त्रोंके अनेक प्रमाणों तथा लौकिक व्यवहारोंके उदाहरण देकर अपने रोगके निवारणार्थ कभी शिवजी को, कभी हनुमान्‌जी को और कभी भगवान् राम को याद कर उनसे प्रार्थना करते हैं, दुहाई देते हैं और उलाहना देकर समझाते हैं; पर उनकी पीड़ा किसी प्रकार दूर नहीं हुई, वरन् और अधिक बढ़ती ही चली गई। इस पर रुष्ट होकर वे अपने इष्टदेव राम को पूतरा बांधने तककी धमकी दे डालते हैं, और सूरदास की तरह कहने लगते हैं—

"हौं अबलौं करतूति तिहारिए चितवत हुतो, न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बांधिहै, सहि न जात मोपै परिहास एते।।"
विनयपत्रिका, २४१

इससे हम तुलसीदास की अन्तिम दशा व वृद्धावस्थाके कष्टोंका अनुमान कर सकते हैं। तब वे कह उठते हैं—

"नीच यहि बीच पतियाइ भरुआइगो,
बिहाइ प्रभु-भंजन बचन मन कायको।
ताते तनु देखियत घोर बरतोर मिस,
फूटि-फूटि निकसत लोन राम राय को।।" बाहुक, ४१

यह तुलसीकी दीन दशा और अन्तिमकालकी रुग्णावस्थाका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

गोस्वामीजी टोना-टटका, करामात, भूत, प्रेत, व्याधि, देवी-देवताओंके अमित प्रभाव आदि बातों पर पूरा विश्वास रखते थे।

वह कहते हैं—

"आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें,
बड़ी है बाहुबेदन कही न सहि जात है।
औषध अनेक जंत्र-मंत्र टोटकादि किये,
बादि भये देवता, मनाये, अधिकात है॥
करतार भरतार हरतार कर्म काल,
को है जगजाल जो न मानत इताति है।
चेरो तेरो तुलसी 'तू मेरो' कह्यौ रामदूत
ढील तेरी बीर, मोहि पीर तें पिराति है॥ बाहुक, ३०

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजी यंत्र, मंत्र, टोटका, खोरि, मूंठि, करामात इत्यादि बातों पर बहुत गहरा विश्वास कर रहे थे। ये बातें उस समय जनतामें बहुत प्रचलित थीं। मुसलमानोंमें भी इन बातोंका खूब प्रचार था। अतः गोस्वामीजी ने भी इन्हें अपनाकर हिन्दूसमाजके लिए अपने विचारानुसार पथ-पदर्शनका प्रयत्न किया था। इसीलिए वे फिर कहते हैं—

"घोर जंत्र-मंत्र कूट कपट कुजोग रोग,
हनुमान आन सुनि छाड़त निकेत हैं।
क्रोध कीजै कर्म कौं प्रबोध कीजै तुलसी को,
सोध कीजै तिनको जो दोष दुख देत हैं॥" बाहुक, ३२

इस प्रकार गोस्वामीजी हनुमान्, शिव और राम सबसे यही आशा रखते थे कि वे दौड़कर उनके कष्टको तुरन्त छू-मन्तर कर देंगे। पर यह कामना इस बार सफल नहीं हुई, यद्यपि इस पीड़ामें उन्हें २० वर्ष तक कष्ट भोगना पड़ा, और वे लगातार अपने विश्वास पर दृढ़ रहे, पर उनका कष्ट दूर नहीं हुआ। तब लाचार हो कहते हैं—

"तुमतें कहा न होइ हा! हा! सो बुझैये मोहि,
हौं हूं रहौं मौन ही, बयो सो जानि लुनिए॥" बाहुक, ४४

और इसे अपने कर्मका फल समझ कर अन्तमें चुप हो जाते हैं।

गोस्वामीजी की अन्तिम दशा अत्यन्त शोचनीय रही है। बीचमें कभी एकआध बार दशा कुछ अच्छी होने लगी तो हनुमान्‌जी को धन्यवाद भी दे डाला। परन्तु उसके

बाद ही उनकी दशा और भी खराब हो गई। तब वे और भी उद्वेगके साथ प्रार्थना करने लगते हैं। एक देवताकी प्रार्थनासे जब कुछ लाभ नहीं दिखलाई देता तब दूसरे देवताकी प्रार्थना करने लगते हैं। इससे भी कुछ लाभ नहीं होता तब वे तीसरे देवताको पुकारने लगते हैं। ऐसी ही मानसिक दशामें वे अपने जीवनके अन्तिम दिन व्यतीत कर रहे थे।

उन्हें जो सुमेरु पहाड़ जैसा धनका ढेर मिला था, वह भी उनके अन्तिम दिनोंमें समाप्त हो गया था। इससे उनके कष्ट और भी बढ़ गये थे। इस स्थितिमें उनके साथी भी साथ छोड़कर चले गये थे। इसकी भी चर्चा उन्होंने अपने छन्दोंमें की है। इस प्रकार गोस्वामीजी सं० १६८० वि० में असी-गंगाके किनारे पर श्रावण कृष्णा ३, शनिवारके दिन परलोकवासी हुए।

गोस्वामीजी में विद्वत्ता, योग्यता, प्रतिभा, अध्ययन, भाषाज्ञान सब कुछ था। हिन्दू-समाजका हित भी उनके हृदयमें था। तत्कालीन कलुषित भावनाओंका विस्तार देखकर उनके हृदयमें एक गहरी ठेस लगी थी। उसीके प्रतिकारके लिए उन्होंने रामचरित मानस तथा अन्य ग्रन्थोंकी रचना की थी। पर वे राष्ट्र-हितमें अग्रसर न हो सके; क्योंकि उनकी दृष्टि हिन्दू-समाजके अधूरे अंग तक ही सीमित थी। पूरे देश व राष्ट्रके हितका विचार उनके मस्तिष्कमें ही न था। इसीलिए वे हिन्दू-मुसलमान मेलकी ओर कुछ भी ध्यान न दे सके और न राष्ट्र-संगठनमें ही सहायक हुए। वरन् पारस्परिक विद्रोह और घृणाके प्रचारमें ही निरत रहे। इसीका फल अन्तिम दिनोंमें उन्हें भयानक रोगके रूपमें मिला प्रतीत होता है। गोस्वामीजी के हृदयमें रक्त-शुद्धिकी भावना तीव्र वेगसे प्रवाहित हो रही थी। यह उन्हें ज्ञान ही न था कि हिन्दू जातिमें बीसियों विदेशी जातियोंके रक्तका सम्मिश्रण हो चुका है, और उसीसे आजके हिन्दू-समाजका संगठन हुआ है।

गोस्वामीजी स्वयं जारज सन्तान थे, जिसको उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है। साथ ही वह इस बातको छिपानेकी भी पूरी कोशिश करते रहे थे कि उनकी जाति क्या है? किस वंशमें पैदा हुए हैं? और कहांके निवासी हैं? अतः उनसे समाजका अधिक हित तो न हो सका, फिर भी गृहस्थ-जीवन, पारिवारिक जीवन, हिन्दू समाजके भीतर साम्प्रदायिक एकता और व्यवहार-कुशलता सिखलाकर उन्होंने समाजका कल्याण किया है। गोस्वामीजी में कुछ संकुचित मनोवृत्ति होनेके कारण सूरकी तरह वे अधिक उपयोगी प्रमाणित न हो सके। फिर भी देशमें फैले दुराचारको दूर करनेमें इन्होंने अच्छा और सफल प्रयास किया। इसलिए इस बातकी अत्यन्त आवश्यकता है कि पाठक गोस्वामीजी के ग्रन्थोंका अध्ययन

करते समय बाहर और भीतरके नेत्र खोलकर विवेचनात्मक दृष्टिसे काम लें। तभी वे उसके दोषोंसे बचकर उनकी कल्याणकारी और हितकर भावनाओंसे लाभ उठा सकते हैं। आशा है, विज्ञ समाज इस राष्ट्रीय विवेचन पर समुचित ध्यान देनेका प्रयत्न करेगा।

१२

रामलला नहछू

नहछू गोस्वामी तुलसीदासजीकी सबसे पहली रचना है। इसमें कविने यज्ञोपवीतके अवसर पर होनेवाली एक रीतिका चित्रण किया है। विवाहके अवसर पर भी मायन होता है और उसमें नहछू किया जाता है, पर इस नहछूमें न तो सीताजीकी उपस्थिति ही दिखलाई है और न उनका कोई उल्लेख ही किया गया है। विवाहमें वर-वधूकी गांठ जोड़-कर मायनकी पूजा की जाती है और उसीमें नहछू (नहोड़ा) किया जाता है। अतः यह पूजा लोकाचारका ही एक विधान है, वैदिक प्रणालीसे इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। निश्चित रूपसे यज्ञोपवीतके अवसरका ही यह वर्णन समझना चाहिए।

इस नहछूमें वर और दूलह शब्दोंका प्रयोग किया गया है। इससे कुछ विद्वान् इसे विवाहके अवसरका ही नहछू बतलाते हैं; पर इन शब्दोंका प्रयोग यज्ञोपवीतके अवसर पर भी किया जाता है और लोकाचारके कारण विवाहकी रीतिकी ये बातें यज्ञोपवीतमें भी की जाती हैं। अतः निर्विवाद रूपसे हमें यह रीति यज्ञोपवीतकी ही मान लेनी चाहिए।

यज्ञोपवीतका संस्कार ब्रह्मचर्य-साधन और विद्याध्ययन प्रारम्भ करनेका एक वैदिक समारोह था। उसको कितना विकृत कर दिया गया है, इसका एक आभास इस रचनासे मिल जाता है।

गोस्वामीजी लोकाचार मनवानेके प्रबल पक्षपाती थे। उनकी इस भावनाका प्रमाण गोस्वामीजीकृत रामचरित मानससे लेकर उनके सम्पूर्ण ग्रन्थोंमें पाया जाता है। कुआं-पूजन,

---

* नहछू यज्ञोपवीत और विवाहके अवसर पर एक लोक-रीति की जाती है, जिसमें नाइन नाख़ूनोंको काटकर पैरोंको धोती है।

सिल-पूजन, लाजाहोम, वट-पूजन आदि सैकड़ों ऐसे व्यवहार इसी लोकाचारके अन्तर्गत हैं। यह नहछूकी प्रणाली भी एक लोकाचारका विधान था, जिसके लिए गोस्वामीजी सदैव प्रयत्नशील रहते थे। इसी लोकाचारकी भावनाको उत्तेजना देनेके लिए उन्होंने इस नहछूकी रचना की है। यदि इसमें कुछ समाज-सुधारका विचार होता, तो इसमें गन्दे गीतोंकी चर्चा और प्रशंसा न होती और न कामुकता-पूर्ण वासनाका ही उल्लेख किया जाता। यथा——

"काहे रामजिउ सांवर लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानी कौसिलहिं परिगा भोर हो॥
राम अहहिं दशरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत शत्रुघन भाई तौ श्री रघुनाथ क हो॥" रामलला नहछू, १२
"गावहिं सब रनिवास देहिं प्रभु गारी हो।
रामलला सकुचाहिं देखि महतारी हो॥" नहछू, १८

तथा राजा दशरथके विषयमें कहा गया है कि——

"उतरत जोबन देखि नृपति मन भावइ हे।" नहछू, ५

इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भमें गोस्वामीजी वासना और कामुकतापूर्ण चित्रणके पक्षपाती थे, जैसा कि अन्य कवियोंकी रचनाओंमें उस समय पाया जाता था। यहां तक कि सूरदास में भी हमें इसी भावनाके दर्शन हो जाते हैं।

इस नहछूकी रचनासे हमें यह आभास भी मिलता है कि गोस्वामीजीकी यह रचना उनके गार्हस्थ्य जीवन-कालकी ही होनी चाहिए; क्योंकि गृहस्थीमें रहकर शृंगारप्रियता की यह लोलुप भावना और काम-वासनाकी प्रवृत्ति चित्तको अधिक आकर्षक हो सकती है। साथ ही यह भी प्रत्यक्ष बात है कि इसके सिवा अन्य कोई उनकी रचना गहरे शृंगार से ओतप्रोत नहीं है।

नहछूको उन्होंने रामके लिए लिखकर यह भी प्रदर्शित कर दिया है कि प्रारम्भसे ही उनके हृदयमें राम-भक्तिके अंकुर उग रहे थे। अतः अपनी शृंगारप्रियताको रामके साथ मिलाकर उसके विषको कुछ कम करनेका प्रयत्न अवश्य किया गया है। सम्भव है, कृष्णके विषयमें सूरदास आदि की शृंगारिक रचनाएं देखकर उनके हृदयमें रामको भी शृंगारमय बनानेकी लालसा उभर आई हो। पर आगे चलकर उन्होंने इस मार्गका त्याग कर

दिया और समाजमें सदाचारकी वृत्तियां जगानेके लिए वे जीवन भर प्रयत्नशील रहे। इसका उल्लेख यथासमय विस्तारसे किया जायगा।

गोस्वामीजीने अपनी इस नहछू नामक पुस्तिकामें राजमहलमें काम करनेवाली स्त्री-कर्मचारियोंका अच्छा जीता-जागता चित्रण किया है। मोचिनके विषयमें वे लिखते हैं—

"मोचिनि बदन संकोचिनि हीरा मांगन हो।
पनहि लिहे कर सोभित सुन्दर आंगन हो।।" ६

इन पंक्तियोंमें अछूतपनेकी कुछ भावना अवश्य व्यक्त होती है। इसीलिए मोचिन की मानसिक निर्बलताको बड़े अच्छे ढंगसे व्यक्त करनेका प्रयत्न किया गया है। गोस्वामीजी की यह भावना आगे चलकर और भी विकृत रूपमें हमारे सामने आई है, जो कि सहस्रों वर्षकी हमारी निर्बलताका परिणाम है। गोस्वामीजी इस विषयमें समाजको न तो परिष्कृत रूप ही दे सके और न उसे पतनकी दशासे उठानेमें ही समर्थ हुए।

गोस्वामीजीने जिठानी द्वारा कौशल्याको नहछू करवानेकी आज्ञा दिलवाई है। यथा—

"कौसिल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन हो।
नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो।।"९

इस पदांश पर यह एतराज किया जाता है कि "कौशल्याकी कोई जिठानी नहीं थी। अतः यह आज्ञा ग़लत दिलाई गई है।"

इस विषयमें उक्त आक्षेप युक्ति-युक्त नहीं है। विवाहादिके अवसर पर वंश भरमें जो वृद्धा या पुरखिन होती है उसीसे पूछकर काम किया जाता है। अतः वही जिठानीके रूपमें मान्य होती है। इसलिए उक्त आक्षेप ठीक नहीं है।

इन नहछूमें केवल रामका उल्लेख है। अन्य भाइयोंकी चर्चा भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि इसे भक्ति-भावनाके विचारसे ही लिखा गया है। इसमें सुधारकी भावनाका आभास तो नहीं मिलता, पर सम्भव है कि अधिक गन्देपनको कुछ हल्का करने तथा रामके साथ जोड़नेकी भावना काम कर रही हो।

डॉ० माताप्रसादजी गुप्तने इस नहछू पर एक आक्षेप यह भी किया है कि नाइनको दो बार बुलानेकी चर्चा है जो कि व्यर्थ और पुनरुक्ति दोष है। यथा—

"नैन बिसाल नउनियां भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो॥" ८

इससे स्पष्ट है कि नाइन मायन होनेके अवसर पर वहां मौजूद थी, पर फिर दसवें पद्य में कहा गया है—

"नाउनि अति गुनखानि तौ बेगि बुलाई हो।
करि सिंगार अति लोन तौ बिहंसति आई हो॥" १०

इसमें दो बारका उल्लेख न तो व्यर्थ है न पुनरुक्ति है। इसका कारण यह है कि प्रथम बार जो नाइनकी चर्चा आई है वह लोहारिन, अहीरिन, तँबोलिन, दरजिन, मोचिन, मालिन और बारिनके साथ नाइनका उल्लेख अपने-अपने घरसे महलोंमें आनेके बारेमें किया गया है। फिर रानी कौशल्याके रामको लेकर सिंहासन पर मंडप तले विराजमान होने पर नहछूका कृत्य करनेके लिए समूहमें से उसे मंडपमें बुलाया गया है, अतः नाइनको दुबारा बुलानेकी सार्थकता स्वतःसिद्ध है। ऐसी दशामें न तो उसके बुलानेकी व्यर्थता ही जान पड़ती है और न पुनरुक्तिका दोष ही दिखलाई देता है। और इसीलिए—

"कनक चुरिन सों लसित नहरनी लिये कर हो।"१०

हाथमें नहरनीका उल्लेख विशेष रूपसे किया गया है। इससे उक्त दोषका अभाव बहुत स्पष्ट हो जाता है।

हस्तलिखित प्रतियोंमें कुछ पाठ-भेद तो है ही, पद्योंमें भी न्यूनाधिकता पाई जाती है। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशीकी हस्तलिखित प्रतिसे छपी प्रतिमें १७वें पद्यकी दो पंक्तियां अधिक हैं।

इस प्रकार गोस्वामीजीकी यह प्रारम्भिक प्रति छोटी होते हुए भी काफ़ी महत्त्व रखती है। काव्यकी दृष्टिसे यह रचना प्रारम्भिक होने पर भी अच्छी और पढ़ने योग्य है।

१३

वैराग्य-सन्दीपनी

गोस्वामीजी की यह रचना सन्त मतमें आने व वैराग्य धारण करनेके वर्ष दो वर्ष बादकी ही प्रतीत होती है। इसमें सन्त मतका बहुत ही सुन्दर और सीधा-सच्चा निरूपण किया गया है। प्रारम्भमें वन्दना, भक्ति और निर्गुण का अच्छा चित्रण है। इसके बाद ईश्वरावतारका कारण दिखलाया गया है। कर्म-फलकी व्याख्या करके शरीरको त्रितापोंसे पीड़ित बताया गया है। फिर रामचरित मानसकी तरह वैराग्य-सन्दीपनीकी रचनाका आधार दिखलाया गया और उसे वेद, पुराण और शास्त्र-मतका सार कहा गया है।

यह गोस्वामीजी की प्रारम्भिक रचना है। इसका प्रमाण इससे भी मिलता है कि अन्तमें कवि बड़ी विनम्रतापूर्वक सज्जनोंसे भूल सुधारनेकी प्रार्थना करता है। अन्य किसी रचनामें उन्होंने ऐसा नहीं किया है। यथा—

"यह बिराग-सन्दीपनी सुजन सुचित सुनि लेहु।
अनुचित बचन बिचारि कै जस सुधारि तस देहु॥" वैराग्य-सन्दीपनी, ६२

गोस्वामीजी ने प्रारम्भिक जीवनमें ही अपनेको रामभक्त बना लिया था और तभी से राम को अवतार-रूपमें चित्रित करने लगे थे, यथा—

"अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुनरहित जो।
मायापति सोइ राम, दास हेतु नर तन धरेउ॥" ४

इसके बाद वे कर्मकी व्यवस्थाका स्वरूप भी वैदिक रूपमें ही मानते दिखलाई देते हैं और इसीलिए वे "बवै सो लुवै निदान" की व्यवस्था देते हैं।

गोस्वामीजी ने सन्त-स्वभावका चित्रण ८वें दोहेसे प्रारम्भ करके ३३वें दोहे पर समाप्त किया है। सन्त-स्वभावकी एक बात पर अच्छा जोर दिया है। वे कहते हैं--

"की मुख पट दीन्हें रहै, यथाअर्थ भाषंत।
तुलसी या संसारमें सो विचारयुत सन्त॥" ११

सन्त अधिक वाचाल नहीं होते, इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या इस दोहेमें की गई है। गोस्वामीजी ने सन्त-स्वभावमें कहा है—

"सत्रु न काहू करि गनै मित्र गनै नहिं काहि।
तुलसी यह मत सन्त कौ बोलै समता माहिं॥" १३

इससे स्पष्ट है कि समदर्शिता ही सन्त का लक्षण है। किन्तु वे प्रारम्भमें भले ही इसका निर्वाह कर सके हों, पर मानस, कवितावली तथा विनय-पत्रिकामें इसका पूर्णतया निर्वाह नहीं कर सके; पक्षपाती हो गये हैं।

गोस्वामीजी चातक की रटनिको भक्तके उदाहरणमें सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। उसकी भावनाका प्रारम्भ इस वैराग्य-सन्दीपनीसे ही कर दिया गया है। इसका १५वां दोहा इस बातका साक्षी है। जो सज्जन मन, वचन और कर्मसे किसीको दोष नहीं लगाते, वे ही राम-रूप सन्त हैं। यथा—

"तन करि मन करि वचन करि काहू दूषत नाहिं।
तुलसी ऐसे सन्त जन राम-रूप जग माहिं॥" २३

फिर सन्तोषी और संयमशील सन्त की प्रशंसा करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि वे सन्त साक्षात् ब्रह्मरूप ही पृथ्वीमें विचरण करते हैं। देखिये—

"कंचन कांचहि सम गनै कामिनि काठ पषान।
तुलसी ऐसे सन्त जन पृथ्वी ब्रह्म समान॥" २७

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी उच्च कोटिके महात्मा थे। उन्होंने अपने जीवनको साहित्यिक सन्त और सुधारकके रूपमें प्रतिपादित किया है। इसमें उनकी

भावना देश और समाजके हितमें अवश्य थी, फिर चाहे उन्होंने कभी-कभी भ्रमपूर्ण मार्ग ही क्यों न पकड़ लिया हो।

सन्त की महिमा वर्णन करते हुए हमारे चरित्रनायक ने लिखा है--

"महि पत्री करि सिन्धु मसि तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सों तदपि महिमा लिखी न जाइ॥" ३५

यह दोहा शिवमहिम्नके एक श्लोकका अनुवाद है जो यहां दिया जाता है—

"असितगिरि समंस्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥" (महिम्न)

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी महाराजको जहां कहीं से अच्छा आधार व उच्च कोटिका पद्य मिल जाता था, वहीं से लेकर उसके भावार्थसे अपनी रचनाकी शोभा बढ़ा देते थे।

इस वैराग्य-सन्दीपनीमें गोस्वामीजी ज्ञानको भक्तिसे बड़ा मानते और भक्तिको ज्ञानका साधन समझते हैं। इसीलिए कहते हैं--

"भक्ति कौ भूषण ज्ञान"॥ ४३

पर मानसके उत्तरकांडमें ज्ञानसे भक्तिकी महत्ता बढ़कर बतलाई है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी के सिद्धान्तोंमें समयानुसार परिवर्तन होता गया था।

गोस्वामीजी भक्तिकी दृष्टिसे बड़े ही विनम्र प्रतीत होते हैं, इसीलिए वे कहते हैं—

"तुलसी जाके वदन तें धोखेउ निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मेरे तन कौ चाम॥" ३७

इससे स्पष्ट है कि वे भक्तोंका बड़ा आदर करते थे और उनमें रामभक्तोंके प्रति अपार श्रद्धा थी।

गोस्वामीजी भक्तिके विधानमें भक्त चांडाल को अभक्त उच्च कुलवाले ब्राह्मणसे उत्तम समझते थे, इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा--

"तुलसी भगत सुपच भलौ भजै रैनि दिन राम।
ऊंचौ कुल केहि काम कौ जहां न हरि कौ नाम।।" ३८

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी सन्त भावनाके कारण वैराग्य रूपमें समताका आदर्श निबाहते और ऊंच-नीचका क्राइटरिया (कसौटी) भक्ति-भावना पर निर्धारित करते थे; पर गार्हस्थ्य जीवनमें उन्होंने वर्ण-व्यवस्थाका स्वरूप गुण-कर्मपरक न रखकर जन्मपरक मान लिया था। इसीसे वे कहते हैं—

"पूजिय बिप्र सील-गुन-हीना।
नहीं सूद्र गुन-ग्यान-प्रबीना।।" (मानस)

गोस्वामीजी के इन दो मार्गोंको जो नहीं समझ पाता, वह उनके विचारोंको देखकर असमंजसमें पड़ जाता है। अतः पाठकोंसे निवेदन है कि वे गोस्वामीजी की रचनाका अध्ययन करते समय इसका अवश्य ध्यान रखें। तभी वे ठीक-ठीक उनको समझनेमें समर्थ हो सकते हैं।

गोस्वामीजी उच्चपदस्थ अभक्त धनिक वर्ग तथा उच्च वर्णवाले अभिमानियोंसे निम्न कोटिके उपकारी सन्तोंकी तुलना करते हुए कहते हैं—

"अति ऊंचे भूधरनि पर हैं भुजगन के स्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद ऊख, अन्न अरु पान।।" ३९

स्पष्ट ही गोस्वामीजी "ऊंच निवास नीच करतूती।" वाले दुष्टोंसे बचनेका उपदेश देते हैं और परोपकारी दीनभाव रखनवालोंका आदर व प्रशंसा करते हैं। यह विचार अवश्य सराहने योग्य है।

गोस्वामीजी शान्तिके परम उपासक थे। अशान्तिसे उन्हें चिढ़ थी। इसीलिए शान्ति की महत्ता दिखलाते हुए लिखते हैं—

"सात दीप नव खंड लौं तीन लोक जग माहिं।
तुलसी सान्ति समान सुख और दूसरौ नाहिं।।" ५०

इससे विदित होगा कि वे शान्तिको कितना महत्त्व देते थे। अकबर बादशाह का शान्ति-युग होनेसे ही गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा सूरदास जैसे सन्त कवि पैदा हो

सके और अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओंका विस्तार कर सके। जब कभी उन्हें अशान्तिका सामना करना पड़ता था, तभी उनके चित्तमें अत्यन्त खिन्नता भर जाती थी। अन्तिम कालमें बाहु-पीड़ा उनकी मानसिक वेदनाका ही परिणाम थी। नागरी-प्रचारिणी सभाकी हस्तलिखित प्रतिमें यह एक दोहा ४२वें दोहेके बाद अधिक है--

"राम नाम कलि कल्पतरु फल कल्यान निवास।
जेहि सुमिरत भेभाँगते तुलसी तुलसीदास॥"

इस दोहेकी भावना गोस्वामीजी के अभिमानकी सूचक है और यह तब लिखा गया प्रतीत होता है, जब गोस्वामीजी का सम्मान अधिक बढ़ गया था। इसीसे अधिकतर पुरानी प्रतियोंमें यह दोहा नहीं मिलता।

इसी रूपमें यह दोहा अन्यत्र भी उनकी रचनाओंमें मिलता है। इससे भी यही जान पड़ता है कि यह दोहा वैराग्य-सन्दीपनी लिखते समय नहीं रचा गया था। इसकी भावना भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचनेके लिए बाध्य करती है कि उनकी विचारधारामें क्रमशः परिवर्तन होता रहा है।

इस रचनामें हमें गोस्वामीजी के शुद्ध और सरल चित्तका स्पष्ट प्रतिबिम्ब झलकता देख पड़ता है, जो आगे चल कर भिन्न-भिन्न भावनाओंसे परिवेष्ठित होनेके कारण अनेक प्रकारकी शृंखलाओंमें जकड़ा हुआ प्रतीत होता है।

इससे यह भावना और भी स्पष्ट हो जाती है कि गोस्वामीजी को राम-दर्शनके विषय में किसी प्रेतकी सहायता अथवा हनुमान्‌जी से उनकी भेंट होनेकी बात भी ठीक नहीं है। इस विषयमें तो गोस्वामीजी ने अपने विचारोंको कई स्थलों पर स्पष्ट भी कर दिया है।

हां, सांसारिक हितोंमें हनुमान्‌जी का विश्वास अवश्य वे करते थे, जिसके लिए बाहुक में उन्होंने कई छन्दोंमें अपनी पीड़ा दूर करनेकी प्रार्थना की है।

गोस्वामीजी ने अपनी इस रचनाको चार भागोंमें बांट सा दिया है।

प्रथम भागमें वन्दना और ईश-निरूपण किया गया है।

दूसरे भागमें सन्त-स्वभावका चित्रण किया है और यही सबसे बड़ा है।

तीसरे भागमें सन्त-महिमा वर्णनकी गई है।

तथा चौथे भागमें शान्तिका स्वरूप वर्णित है।

सब मिलाकर ६२ पद्य हैं, जो कि बड़े ही सीधे-सादे शब्दोंमें सन्त-समागम के फलस्वरूप अनुभवगम्य होकर उनकी लेखनीसे निकले हैं।

इसके अध्ययनसे जीवनकी सरलताकी ओर कुछ प्रवृत्ति अवश्य होती है। अतः यह रचना व्यक्तिगत जीवनके लिए हितकारी है। पर वैराग्यकी ओर झुकाव होनेके कारण कार्य-क्षमता और उत्कर्षकी ओर अग्रसर करनेमें अधिक प्रभावशालिनी नहीं बन सकती। इसमें सन्तोंकी भावनाका बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण और विवेचन किया गया है, जो हमारी आध्यात्मिक भावनाको अवश्य ऊंचा उठा सकता है।

१४

रामाज्ञा-प्रश्न

गोस्वामीजी ने अपनी यह रचना किन्हीं गंगाराम के लिए की है। कहा जाता है कि ये गंगाराम काशीमें ज्योतिषी थे। काशी-नरेश के दरबारमें अपने ज्योतिष-ज्ञानका परिचय देते रहते थे। एक बार काशीका राजकुमार शिकारको गया, पर लौटकर न आया। राजाको बड़ी चिन्ता हुई। उसने गंगाराम को बुलाकर राजकुमारका अदृष्ट बतानेको कहा और यह शर्त भी रख दी कि अगर आपकी बात ठीक निकली, तो एक लाख रुपया इनाम मिलेगा और अगर कहा ठीक न निकला, तो गर्दन काट दी जायगी।

ज्योतिषीजी बड़े ही दुखी होकर घर आये। गोस्वामी तुलसीदासजी उनके घर पर ठहरे हुए थे। उनसे सब वृत्तान्त कहा। सुनकर गोस्वामीजी ने रामाज्ञा-प्रश्नकी रचना एक दिनमें ही की और फल देखकर बतलाया कि राजकुमार कल शाम तक आ जायगा। ज्योतिषीजी ने वही जाकर राजासे कह दिया और वैसा ही हुआ। इस पर राजा ने उन्हें एक लाख रुपया इनाम दिया, जिसे लाकर ज्योतिषीजी ने गोस्वामीजी के सामने रखा। गोस्वामीजी उसमें से कुछ भी लेना नहीं चाहते थे, पर अति आग्रह करने पर उन्होंने उसमें से १२,०००) ले लिया और उससे १२ हनुमान्जी की मूर्तियां स्थापित कीं। उनमें से एक काशीमें और दूसरी राजापुरमें अभी तक विद्यमान हैं। यही रामाज्ञा-प्रश्न रचे जानेका इतिहास बतलाया जाता है। जिस दोहेमें गंगाराम का उल्लेख है, वह यह है—

> "सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
> सब प्रसन्न सुर भूमि सुर गोगन गंगाराम॥" १-७-७

इससे गोस्वामीजी की महत्ता और उदारताका अनुमान किया जा सकता है। इनका ज्योतिषका ज्ञान बढ़ा हुआ था। सतसईसे भी यही बात प्रकट होती है।

गोस्वामीजी जुआ-युद्धको क्षत्रिय-धर्मका एक महत्त्व-पूर्ण अंग मानते थे। इसीलिए वे कहते हैं—

"सुमिरि सत्रुसूदन चरन-सगुन सुमंगल मानि।
पर पुर वाद विवाद जय जूझ-जुआ जय जानि॥" २-४-२

जुआ-युद्धको तयार रहना क्षत्रिय-धर्मका एक अंग माना जाता रहा है। जब कोई वीर क्षत्रिय जुआ या युद्धमें से किसीके लिए क्षत्रिय या शत्रुको ललकारे तो उसका जुआ खेलना अथवा युद्ध करना कर्त्तव्य हो जाता है। इस प्रकार गोस्वामीजी ने भी इस प्रथाका समर्थन किया है। हां, आजकल इस भावनाका अभाव ही पाया जाता है। युधिष्ठिर और राजा नल ये दोनों ही जुए में हारकर बरबाद हुए और अनेक प्रकारके कष्ट सहे। पांडवों पर संकट इसीका परिणाम था। इसी प्रकार राजा नल को भी अपना राज-पाट, धन-भंडार सब हार जाना पड़ा था। इस दोषकी बुराइयां स्पष्ट हैं। सचमुच जुआ खेलना बहुत ही घृणित व्यसन है। इससे देश, समाज और घर बरबाद हो जाता है और अनेक प्रकारके कष्टों का सामना करना पड़ता है।

रामचरित मानसमें रामचन्द्रजी से गीधराज की भेंट रावण-गीध-युद्धके बाद ही हुई है। पर रामाज्ञा प्रश्नमें दंडक वनमें निवास करते हुए राम का गीध से परिचय कराया गया है। फिर सीताहरण होने पर रामचन्द्र गीध-रावण-युद्धके बाद घायल गीध से सीता की खोज करते हुए मिले हैं। इसका उल्लेख इस प्रकार है—

"भेंट गीध रघुनाथ सन दुहुँ दिसि हृदय हुलास।
सेवक पाइ सुसाहिबहिं साहिब पाइ सुदास॥" २-७-५

इससे स्पष्ट है कि गोदावरीके किनारे रहते हुए राम-गीध-मिलन हुआ था। फिर तीसरे सप्तकमें गीध-रावण-समर का वर्णन है। यथा—

"गीधराज रावन समर घायल वीर विराज।
सूर सुजस संग्राम महि मरन सुसाहिब काज॥" ३-३-३

इससे स्पष्ट है कि राम से पूर्वपरिचय होनेके कारण ही गीध ने सीता-हरण पर रावण से युद्ध किया था, जो कि उचित और युक्ति-युक्त है। स्वामीके हित प्राण देना एक

महान् उत्सर्ग माना जाता है। इसीसे गीधराज प्रशंसनीय माना गया और रामचन्द्रजी ने अपने हाथोंसे उसका दाह-संस्कार किया। इसे गीध पक्षी मानना भूल है। यह गीध नामक जंगली मानव जातिका एक व्यक्ति था।

इस रामाज्ञा-प्रश्नमें कथाका क्रम नहीं है, जैसा कि उनके अन्य ग्रन्थोंमें पाया जाता है। प्रथम सर्गमें राम-जन्म है और द्वितीयमें वनवास, चित्रकूटमें राम भरत मिलन, तीसरेमें ऋषियोंसे भेंटका उल्लेख और दंडकारण्यका चित्रण है। चौथे सर्गमें वशिष्ठ द्वारा राजा दशरथ से पुत्र-यज्ञ करवाकर राम आदिके जन्मका वर्णन है, जो अनियमित और क्रम-भंग दोषसे युक्त हो जाता है। इसी सर्गमें विश्वामित्रका राम-लक्ष्मण को ले जाना व राक्षसों का वध कराना भी है। सीताका स्वयंवर भी इसी सर्गमें है। स्पष्ट है कि कथा दुहराई गई है। पहले वर्णनसे इस कथनमें कुछ विस्तार अवश्य किया गया है। इससे यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि इसमें कविने कथाक्रम ठीक रखनेका प्रयत्न नहीं किया। सम्भव है, ज्योतिषके फलाफल निर्देशके कारण ही यह अन्तर आ गया हो।

गोस्वामीजी ने वर्ण और आश्रमकी चर्चा की है। देखिए—

"बरन धरम आश्रम धरम निरत सुखी सब लोग।
रामराज मंगल सगुन सुफल जाग जप जोग॥" ६-६-६

इसमें रामराज्य का महत्त्व दिखलाते हुए वर्ण और आश्रमका शान्तिपूर्वक धर्म-निर्वाह कहा गया है। जप, यज्ञ व योगकी क्रियाएं सब आनन्दसे करते हैं।

गोस्वामीजी का विश्वास है कि विभीषण गोस्वामीजी के समय तक लंकामें राज्य कर रहा था। पर यह इतिहासके विरुद्ध है। आज लंकाका गमनागमन काफ़ी बढ़ गया है। पर गोस्वामीजी के समयमें यह गमनागमन बन्द था, अतः ज्ञान न होनेसे यह ग़लत बात गोस्वामीजी ने कह डाली है। यथा—

"अविचल राज विभीषनहि दीन्ह राम रघुराज।
अजहुं बिराजत लंकपुर तुलसी सहित समाज॥" ६-७-७१

कविने इस नीचे लिखे दोहेमें परशुराम की राम से भेंट विवाह करके लौटते हुए मार्ग में कराई है। इसे भी गोस्वामीजी के शब्दोंमें सुनिये—

"पंथ परसुधर-आगमन समय सोच सब काहु।" १-६-४

कविने इस निबन्धको दो प्रकार से लिया है — (१) रंगभूमिमें भेंट, (२) विवाहसे लौटते समय मार्गमें भेंट। इसमें कविने कोई नियम नहीं रखा, कविकी स्वतंत्रताका प्रयोग ही दिखलाई देता है। कुछ ग्रन्थोंमें रंगभूमिमें यह विवाद कराया गया है और कुछ ग्रन्थोंमें विवाह करके लौटने पर मार्गमें यह भेंट हुई है।

कविने इस ग्रन्थका निर्माणकाल भी दे दिया है। देखिए—

"सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय वान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु प्रीति प्रतीति प्रमान॥" ७-७-३

इसका आशय यह है —

सगुन सत्य ससि—६ सहित १ अर्थात् १६, गुन—६, ससि—१, नयन—२, अधिक नयवान — ५-४=१, इन दोनोंका अन्तर — १, अब क्रम लगानेसे १६२१ संवत् निकलता है।

इससे इस बातका प्रमाण मिल जाता है कि उस समय, सं० १६२१ वि० में, गोस्वामीजी काशीमें रहते थे और वहीं बैठकर उक्त संवत्में गोस्वामीजी ने गंगाराम ज्योतिषी के ही लिए रामाज्ञा-प्रश्नकी रचना की थी।

गोस्वामीजी ब्राह्मणोंके अधिक पक्षपाती थे। उनकी उचित और अनुचित सभी प्रकार से हिमायत की है। अनुमान यह है कि ब्राह्मणों द्वारा वे अपने विचारोंका प्रचार करवाना चाहते थे। इसीलिए सर्वत्र ब्राह्मणोंकी प्रशंसा की है। यहां भी देखिए—

"पुत्रजागु करवाइ ऋषि राजहिं दीन्ह प्रसाद।
सफल सुमंगल मूल जग भूसुर आसिरवाद॥" १-२-५॥

उनकी यह भावना सब ग्रन्थोंमें दिखलाई देती है। कवि जन्मपरक वर्ण-व्यवस्था मानता है, जिसमें अत्यन्त मूर्ख, धूर्त और दुष्ट तकको ब्राह्मणकी पदवी दी गई है। अतः यह खटकनेवाली बात है।

गोस्वामीजी अपनी विधियोंमें परम्पराको बहुत महत्त्व देते हैं। इसीसे वे कर्णवेध और चूड़ाकर्म जैसे वैदिक संस्कारोंमें भी लौकिक प्रणालियोंको नहीं छोड़ना चाहते। वे कहते हैं —

"करनबेध चूड़ाकरम, लौकिक वैदिक काज।
गुरु आयसु भूपति करत मंगल साज समाज॥" ४-२-५

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक शुभ कार्यमें वे लौकिक प्रणालीको भी महत्त्व देते हैं। इसी-लिए उन्होंने "रामलला नहछू" की रचना कर डाली है। यह शुद्ध लौकिक रीति है। इसमें आदिसे अन्त तक सब भावनाएं गन्दे ढंगसे दी गई हैं, जिनसे समाजमें कलुषितता भी बढ़ सकती है।

गोस्वामीजी उच्च कुलकी विशषताको अधिक महत्त्व देते हैं। पर यह कोई साधारण नियमकी बात नहीं जान पड़ती। यथार्थमें गुणोंकी अधिकता संस्कारों और शिक्षा पर निर्भर है। उच्च कुल में बालकों पर नौकरों आदिका ही अधिक प्रभाव पड़ता है, और वे उन्हींके आचरणोंकी नक़ल करते हैं। जब तक माता-पिता स्वयं ध्यान नहीं देते, तब तक सुसंस्कार नहीं बन सकते। इसी लिए गोस्वामीजी के इस कथन में —

"भूपति भूसुर भाट नट, जाचक पुर नर नारि।
दिये दान सनमानि सब पूजे कुल अनुहारि॥" ४-३-५

कुछ पक्षपात झलकता है। कुल अनुहारिसे उनका आशय उच्च वंशमें पैदा होनेसे ही है। गुणोंके उत्कर्ष पर पूजा और सत्कार नहीं दिखाया गया।

गोस्वामीजी ने अननुभूत शक्तियोंके आधार पर बहुत सी बातोंके लिए जोर दिया है और यह ईश्वरत्व प्रदर्शित करनेके लिए ही किया गया है। यथा—

"कोसलपाल कृपाल चित बालक दीन्ह जिआइ।
सगुन कुसल कल्यान सुभ, रोगी उठै नहाइ॥" ६-५-४

इससे उपाय, शक्ति और बुद्धिकी महत्ता कम हो जाती है। इस उदाहरणसे समाजमें मृत्युका नाम ही बाक़ी न रह जायगा। मानवका उत्कर्ष आदर्श जीवनसे है और उसीसे वह अनुभव प्राप्त करता है। ईश्वरीय भावनासे तो ईश्वरत्व मानकर अपनी असमर्थताका अनुभव करता है। इसीसे वाल्मीकीय रामायण हमारे अधिक उपयोगकी वस्तु है। उसमें रामको परात्पर ब्रह्म नहीं, पुरुषोत्तम माना है, जो हमारे लिए आदर्शका काम दे सकते हैं। यही दीप-स्तम्भ हमारे पथ-प्रदर्शनका कार्य कर सकता है।

१५

तुलसी-सतसई

जिस प्रकार गोस्वामीजी को काव्य और महाकाव्य रचनेमें सफलता मिली है, उसी प्रकार फुटकर दोहों और कवित्तोंमें भी उनकी महत्त्वपूर्ण प्रतिभाका अच्छा विकास पाया जाता है। तुलसी-सतसईमें उत्कृष्ट-उक्तियों-युक्तियोंके दर्शन होते हैं। कुछ विद्वान् 'तुलसी-सतसई' को गोस्वामीजी की रचना माननेको तैयार नहीं हैं। पर यह निर्विवाद रूपसे गोस्वामीजी की रचना है। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं। इस विषयका विवेचन इस ग्रन्थावलीके द्वितीय भागमें विस्तारसे किया जायगा।

गोस्वामीजी श्रीराम के परमभक्त थे, उनकी रचनाओंमें सर्वत्र इस भक्तिका परिचय मिलता है। इस प्रसंगमें दार्शनिक सिद्धान्तोंकी आलोचना भी पर्याप्त मात्रामें यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। इस सतसईमें भी इस विषयकी कैसी व्याख्या की गई है, इस पर विचार करना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। गोस्वामीजी कहते हैं—

"कारनको कं जीव कौं खं गुन कह सब कोइ।
जानतको तुलसी कहत, सो पुनि अवर न कोइ॥" सतसई, ३-६४

अर्थात् कं = काम, खं = आकाश, जीवका कारण कामना करनेसे हुआ, उसमें आकाश गुणकी अखंड व्याप्तिसे युक्त बहुरूपता थी। इसे सब कहते हैं। जो इस रहस्यको जान जाता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी अद्वैतमतके माननेवाले थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं दार्शनिक एवं सब प्रकारके सिद्धान्तोंकी चर्चा की है, पर उनका निजी मत भी उनमें से पहचाना जा सकता है। ऊपरके दोहेमें ब्रह्मसे जीवकी उत्पत्ति

और अन्तमें उसीमें लीन होनेकी बात कही गई है। यही अद्वैतका रूप है। इसी बातको कविने एक दूसरे उदाहरणसे और भी स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। यथा—

"आवत अप रवि तें यथा जात तथा रवि मांहि।
जहं ते प्रकट तही दुरत तुलसी जानत ताहि॥" सतसई, ५-२३

अर्थात् जिस प्रकार जल सूर्यसे निकलकर फिर उसीमें जा मिलता है, इसी प्रकार जीव और ब्रह्मकी स्थिति समझिये। तुलसीदास इसके रहस्यको जानता है। इसमें स्वाभिमानका भाव भी व्याप्त है। कविने द्वैतकी भूल दिखलाते हुए इस अद्वैतके दृढ़ीकरणके लिए फिर कहा है—

"नौ के नौ रहि जात है, तुलसी कियौ विचार।
रम्यौ राम इमि जगतमें, नहीं द्वैत विस्तार॥" सतसई, २-२७

यहां पर कविने द्वैतका खंडन करते हुए कहा है कि जिस तरह नौके पहाड़े में नौ अवश्य रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, दूसरा कुछ नहीं है।

गोस्वामीजी सगुण और निर्गुण उपासनामें प्रथमको उत्तम समझते हैं, इसीलिए वे कहते हैं—

"सगुन पदारथ एक नित निर्गुन अमित उपाधि।
तुलसी कहहि विशेषतें समुझि सुगति सुठि साधि॥" सतसई, ५-७७

इससे स्पष्ट है कि वे सगुणको महत्त्व देते हैं और निर्गुण उपासनाको त्याज्य समझते हैं, क्योंकि वह कष्टसाध्य है, और इसकी साधनामें अनेक बाधाएं हैं।

परन्तु गोस्वामीजी मानसमें कहते हैं कि "सगुन उपासक मोक्ष न लहहीं" और इससे उक्त कथनका खंडन हो जाता है। ऐसे परस्पर विरोधी वचन उनकी रचनाओंमें बहुत मिलते हैं, जिनका अनेक भक्तगण सामंजस्य करनेका प्रयत्न करते हैं, पर यथार्थता छिपी नहीं रह सकती। गोस्वामीजी सगुण और निर्गुण में भेद नहीं रखते, इसीलिए कहते हैं—

"अगुन ब्रह्म तुलसी जोई, सगुन विलोकत सोइ।
सुख-दुख नाना भांति कौ, तेहि विरोध तें होइ॥" सतसई, २-५६

इससे व्यक्त होता है कि निर्गुण व सगुण पर्यायवाची हैं, अतः मानसके उक्त कथनसे

इसका भी खंडन हो जाता है। यही यथार्थ वैदिक भावना है।

गोस्वामीजी ने विशिष्टाद्वैतकी भावनाको भी पर्याप्त स्थान दिया है। इसकी विचार धाराको मानते हुए वे कहते हैं––

"यथा सकल अपि जात अप रवि-मंडलके मांहि।
मिलत तथा जिव रामपद, होत तहां लय नांहि॥" सतसई, ५-८

जैसे पानी रवि-मंडलमें आपसे जाता है, पर वहां जाकर लय नहीं हो सकता, पुनः भूमि पर वर्षा द्वारा लौट जाता है, यही दशा जीवकी समझनी चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि वे जीवका ब्रह्ममें लय होना नहीं मानते थे।

यह भावना रहते हुए भी गोस्वामीजी द्विवधामें फंसे जान पड़ते हैं। वे कह बैठते हैं––

"यथा प्रतच्छ स्वरूप बहु, जानत हैं सब कोइ।
तथा हि लय गतिकौं लखब असमंजस अति सोइ॥" सतसई, ५-७

जब गोस्वामीजी देखते हैं कि महाप्रलयमें पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें और वायु आकाशमें विलीन हो जाता है, तो वे इस असमंजसमें पड़ जाते हैं कि कहीं जीव भी तो ब्रह्ममें लीन नहीं हो जाता। इससे यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि गोस्वामीजी ने इस दोहेको रामचरितमानस की रचनासे पूर्व ही लिखा था और उस समय उनके विचार विशिष्टाद्वैत मतके अनुयायी थे। इसीलिए अद्वैतको जो स्थान मानस में मिला है, वह सतसईमें नहीं है। फिर भी मानससे पीछे होनेके कारण इसमें भी अद्वैतकी कुछ भावना विद्यमान है। गोस्वामीजी पारस्परिक दार्शनिक तथा धार्मिक विरोधोंको देखकर बहुत ही चिन्तित होकर कह बैठते हैं––

"स्रवन, सुनत देखत नयन, तुलत न विविध विरोध।
कहहु कहो केहि मानिये केहि विधि करिय प्रबोध॥" सतसई, ४-१२

इससे प्रकट होता है कि गोस्वामीजी बहुत काल तक विभिन्न विचारधाराओंमें से कौन-सी ठीक है, इसका निर्णय नहीं कर पाये थे। इसीलिए उन्हें अपनी एक ही रचनामें अनेक मार्गोंका अवलम्बन करना पड़ा।

किन्तु इन दार्शनिक सिद्धान्तोंके अनिर्णयका प्रभाव उनकी राम-भक्तिको नहीं डिगा

सका, यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसीलिए वे इस दुविधामें फँसे रहने पर भी कि राम राजा हैं अथवा जगदीश, तुरन्त इस बात पर दृढ़ हो जाते हैं कि 'राम-चरन आधार' मुख्य है।

वे इन शब्दोंमें अपनी यह भावना व्यक्त करते हैं—

"जो जगदीस तौ अति भलौ, जो महीस तौ भाग।
जनम-जनम तुलसी चहत, रामचरन-अनुराग।।" सतसई, ७-१२४

उनकी राम-भक्तिकी आस्था पराकाष्ठाको पहुँची हुई थी, और इसी आधार पर वे हिन्दू जातिका कल्याण अनुभव करते थे। यह भावना वाल्मीकि मुनिके चरित्र-चित्रणके अध्ययनसे होनेकी ही अधिक सम्भावना है। सम्भव है, सन्तोंके समागममें इस विषय के विवेचनसे उक्त विचार-धाराको बल मिला हो। फिर भी इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गोस्वामीजी में सत्यांश ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति अधिक थी और वह उस पर दृढ़ हो जानेके लिए सदैव तत्पर रहते थे, जिसमें वे हिन्दू-समाजका हित निहित समझते थे।'

गोस्वामीजी मूर्तिके विषयमें आदर रखते हुए भी उसका अर्चन-पूजन न होनेकी दशा पर बहुत रुष्ट-से जान पड़ते हैं। वे कहते हैं—

"दृषद करत रचना विहरि रंग रूप समतूल।
विहंग वदन विष्ठा करैं तातें भयौ न तूल।।" संतसई, ४-४६

अर्थात् पत्थरको कोरकर मूर्ति बनाई जाती है। उसका रंग-रूप मूलसे मिलानेका प्रयत्न किया जाता है। पर पक्षी उस मूर्त्ति पर विष्ठा कर जाते हैं, इसलिए वह यथार्थके समतुल्य नहीं हो सकी।

यह कथन पूजाके उचित विधान पर ज़ोर देनेके लिए है।

फिर भी इससे यह भावना व्यक्त होती है कि कवि ने "मानो तो देव, नहीं तो पत्थर हैं ही", इस यथार्थताकी ओर संकेत किया है। देखिये, वे इसका कितने अच्छे ढंगसे वर्णन करते हैं—

"मृग-जल घट भरि विविधविधि सींचत नभतरु मूल।
तुलसी मन हरषित रहत, विनहि लहे फल-फूल।।" सतसई, ४-३५

"सोऽपि कहहिं हम कहँ लह्यौ, नभतरुकौ फल-फूल।
ते तुलसी तिनतें विमल सुनि मानहिं मुदमूल॥" सतसई, ४-३६

इससे स्पष्ट है कि मृगतृष्णाके पीछे घूमना और आकाश-कुसुमकी खोजमें दौड़ना अर्थात् असम्भवको सम्भव समझना गोस्वामीजी बहुत बुरा समझते थे। उन्होंने इस पर खेद प्रकट किया है कि मनुष्य इन्हींमें प्रसन्न होता है और सुख मानता है। वह कहते हैं--

"तुलसी गाडर को ढरनि जानौ जगत विचार।" सतसई, ४-३७

इससे स्पष्ट है कि भेड़ियाधसानको वे बुरा समझते थे और समाजमें इसीकी विशेषता देखकर उसे खूब फटकार बतलाई है।

इसी भेड़ियाधसानको निन्दित और त्याज्य समझकर ग़ाजी मियां की पूजाको बुरा बतलाया है और इसे भेड़ियाधसान कहा है। इन यात्रियोंमें अधिकांश स्त्री व शूद्र होते थे। अतः गोस्वामीजी ने इनकी खूब भर्त्सना की है। ये मुसलमान भी बहुत हो रहे थे, इसीलिए वे इनसे बहुत ही असन्तुष्ट प्रतीत होते हैं। गोस्वामीजी के शब्दोंमें ही इसका विवेचन देखिए--

"लही आंख कब आंधरेहि, बांझ पूत कब पाय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहरायच जाय॥" सतसई, ७-३७

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी के समयमें भी अन्धविश्वास खूब फैल रहा था। वहां की यात्रा करने व जियारतसे अन्धेको आंखें, बांझको पुत्र मिलना तथा कोढ़ीका शरीर अच्छा हो जाना प्रसिद्ध किया जाता था। इस अन्ध-विश्वासको दूर करनेके लिए ही उन्हें यह दोहा लिखना पड़ा था, इस प्रकारकी घृणित भावनाओंको दूर करनेका उन्होंने अच्छा प्रयत्न किया था। पर उन्होंने हिन्दुओंकी इस प्रकारकी अन्ध-परम्परादूषित चित्त-वृत्तिको रोकनेका विशेष प्रयत्न नहीं किया। इसीलिए कुआं पूजना, वट-पूजन, घूरा पूजना, भूत-प्रेतकी मान्यता आदि सैकड़ों असम्बद्ध, वेद-विरुद्ध रीतियां उनकी रचनाओंमें पाई जाती ह। इसीलिए लौकिक भावनाओंको भी उन्होंने महत्त्व दिया है कि साधारण जनता इस ओर खिंच जाय और मुसलमान होनेसे बच जाय—

"तरल तरंग सुछन्दवर, हरत द्वैत तरु मूल।
वैदिक लौकिक विधि विमल लसत विसद वर कूल॥" सतसई, ४-९३

इससे स्पष्ट है कि वे लौकिक रीतियोंको भी वैदिक विचारोंके समान ही स्थान देते थे। इसी प्रकारका एक उदाहरण और भी है—

"गिरत अंड संपुट अरुन, जमत पच्छ अनयास।
अलल-सुवन उपदेस केहि, जात सु उलटि अकास।।" सतसई, २-४८

इसमें वर्णित अलल पक्षीके सदैव आकाशमें उड़ने तथा उसके अंडे भूमि पर गिरनेसे पूर्व ही फूटकर बच्चेके तुरन्त आकाशमें उड़ जानेकी चर्चा है। यह कथन केवल लौकिक किंवदन्तीके आधार पर ही किया गया है। इसके विषयमें सत्य ज्ञान पानेका उद्योग नहीं किया गया।

गोस्वामीजी की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्होंने जन्मपरक वर्ण-व्यवस्था मानकर विधान चलाया। इससे समाजमें बड़ी विकृति आ गई और बीरबल, अकबर, मानसिंह और अबुलफ़ज़ल जो नवीन व्यवस्था चलाना चाहते थे, उसमें उन्हें नितान्त असफल होना पड़ा। इसका कारण केवल गोस्वामीजी की यह विकृत व्यवस्था ही थी। देखिए, वे कहते हैं—

"वर्णधार वारिधि अगम, को गम करै अपार।
जन तुलसी सतसंग बल, पायौ विसद विचार।।" सतसई, ४-११

इससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्थाको वे अगम समुद्र समझते थे। इसकी थाह गोस्वामीजी को न थी। इसीलिए वे ठीक निर्णय न कर सके कि हमें क्या करना चाहिए। पर तत्कालीन भावनाको वे उत्तम नहीं समझते थे, और इसीलिए उन्होंने इसका विरोध किया था, यद्यपि उन्होंने इसका 'विसद विचार' पानेका दावा तक कर डाला है। वास्तव में गोस्वामीजी का विवेक यहां पर नितान्त कुंठित हो गया है। इसी वर्ण-व्यवस्थाको जन्मपरक माननेके लिए वे किस प्रकारसे ज़ोर देते थे, इसके विषयमें उनके निर्णयका अवलोकन कीजिए—

"जो गति जानै बरनकी, तन गति सो अनुमान।
बरन बिन्दु कारन तथा, यथा जानु नहिं आन।।" सतसई, ४-६९

इससे स्पष्ट है कि उनके मतमें वर्णकी व्यवस्था शरीर पर निर्भर है और वर्णका कारण केवल बिन्दु (वीर्य) है। कर्मके आधार पर अवस्थित वेदकी व्यवस्थाको उन्होंने

अस्वीकार कर दिया था। इस प्रकार वे सूर, वल्लभाचार्य और वैदिक पंडितोंकी वर्ण-व्यवस्थाको, जिसे अकबरकी परिषद् ने भी स्वीकार कर लिया था, त्याग बैठे, और यह सब उसी अन्ध-विश्वासके सहारे किया, जिसका वे बड़े ज़ोरोंसे खंडन कर रहे थे। इससे यह भावना अधिक पुष्ट हो जाती है कि गोस्वामीजी ने केवल तीर्थोंके पंडे, पुरोहित, पुजारी और कर्मकांड करानेवालोंके सहारेसे उन्हींके लिए यह व्यवस्था देनेका प्रयत्न किया, जिससे समाज और भी अधिक अंन्ध-विश्वासोंमें जकड़ गया। यदि गोस्वामीजी वैदिक वर्ण-व्यवस्था मानकर चलते, तो देश और समाज दोनोंका महान् कल्याण होता और मूर्खताको न तो उत्तेजना ही मिलती और न प्रोत्साहन ही। एक छोटी-सी बात कितना अनर्थ कर डालती है, इसका यह एक ज्वलन्त उदाहरण है।

गोस्वामीजीने भाग्यके भरोसेको प्रधानता दी है। इसीलिए उन्होंने होनहारको भी मुख्य माना है। वे कहते हैं—

"होनहार सब आप तें वृथा सोच कर जौन।
कंज शृंग तुलसी मृगनि कहहु उमेठत कौन॥" सतसई, २-५३

अर्थात् मृगोंके सींग स्वयं ही टेढ़े होते हैं, कोई उन्हें उमेठता नहीं। इसीलिए जैसा होनहार होता है, वह होकर ही रहता है। यह कहकर उन्होंने अकर्मण्यताका ही समर्थन किया है।

इससे भी बढ़कर उन्होंने भिक्षाटनको महत्ता दी है और उद्योग करनेको गर्हणीय ठहराया है। यथा—

"बिनु प्रपंच लखु भीख भलि, नहिं फल किये कलेस।
बावन बलि सों लीन छलि, दीन्ह सबहिं उपदेस॥" सतसई, ७-४६

यहां पर गोस्वामीजी ने काम-धन्धे और उद्योगको गर्हणीय ठहराया है। इसी आधार पर बिना परिश्रमकी भीख अच्छी और सांसारिक प्रयत्नसे सफलता पाना व्यर्थ कहा है। कृतकार्यता पानेके लिए कष्ट उठाना उचित नहीं। कहते हैं, जिस प्रकार वामनरूप भगवान्ने राजा बलि से छल कर भूमि ली और सबको एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी है। उन्होंने साधुओंवाली अकर्मण्यताको काफ़ी महत्त्व दे डाला है। उसका समर्थन "नहिं फल किये कलेस" कहकर किया है। गोस्वामीजी ने ब्राह्मण समाजको भी घोर निष्क्रियताका पाठ

पढ़ाया जिससे आज उन्हें अपने कर्त्तव्य-कर्म तकका ज्ञान नहीं रहा है। आज ब्राह्मणसमाज विद्याध्ययनमें परिश्रम न करके भीख मांगने और व्यर्थ समय-यापन करनेको उत्तम समझता है। यह ब्राह्मणोंका पक्षपात उनके लिए अभिशापके रूपमें ही सिद्ध हुआ है। यही भावना उन्होंने—"हुइ है वहै जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावहि साखा।।" लिखकर 'मानस' में भी व्यक्त की है।

गोस्वामीजीने मगहरकी भूरि-भूरि निन्दा की है। प्राचीनकालसे मगध बौद्ध धर्मका केन्द्र रहा है, अतः वैदिक धर्मका पुनरुद्धार होने पर बिहार हेय समझा जाने लगा। गोस्वामीजी ने कबीरकी भावनाको भी त्याज्य मानकर मगहरकी निन्दा की है। वे काशी व मगहरकी तुलना करते हुए लिखते हैं—

" सित कासी मगहर असित, लोभ, मोह, मद, काम।
हानि लाभ तुलसी समुझि बास करहु बसु याम।। " सतसई, ४-८९

इस दोहेमें काशीको उज्ज्वल और मगहरको भ्रष्ट (काला) कहा है। काशीमें सदैव बसनेके लिए आपने सिफ़ारिश की है। यह ठीक है कि काशीमें वास करनेसे विद्वत्समाज द्वारा ज्ञानकी वृद्धि हो सकती है। पर इस पर विचार न कर "काश्यां मरणान्मुक्तिः" की भावनाको महत्त्व देनेके लिए ही उक्त बात कही गई है। यह कथन भी उसी अन्ध-विश्वासकी ओर हमें ले जाता है जिसकी वे स्वयं निन्दा करते हैं। वास्तवमें गोस्वामीजी का अन्ध-विश्वास मुसलमानों तक ही सीमित है। पुराणोंके अन्ध-विश्वास और लौकिक व्यवहारोंके मूर्खता-पूर्ण चित्रण उनके लिए ग्राह्य हैं। चाहिए यह था कि सभी प्रकारके अन्ध-विश्वासोंको वे समाजसे मिटानेका उद्योग करते।

गोस्वामीजी ने शब्दकी महत्ताको स्वीकार किया है, और उसे तीन प्रकारका माना है। ध्वन्यात्मक, वर्णात्मक, श्रवणात्मक (रेडियो आदि द्वारा)। ये भाव लटकी उलझनकी तरह उलझ रहे हैं। मनुष्य अविधि (अनियमित) शब्दोंमें भ्रान्त हो गया है और उचित मार्ग नहीं समझ पाता। क्योंकि शब्दोंमें सघनता है और थोड़े कालमें वे भिन्नता ग्रहण कर लेते हैं, इसीसे वे कहते हैं—

"विविध भाँति कौ शब्दचर विघटन लट परिमान।
कारन अविरल अलपियत तुलसी अवधि भुलान।।" सतसई, ४-१

वास्तविकता भी यही है कि मनुष्य विवेचन नहीं कर पा रहा है कि कौन-सा कार्य ठीक है और कौन-सा अशुद्ध व भ्रम-पूर्ण। इसी दुबिधामें वह बहक जाता है।

गोस्वामीजी ने भाषाको विशेष महत्त्व नहीं दिया। वे भावोंकी प्रधानताके पक्षपाती हैं।

"का भाषा का संसकृत भाव चाहिए सांच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाच॥" सतसई, ७-१२५

गोस्वामीजी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था और उन्होंने अनेक प्रकारकी भाषाका उपयोग किया है। ब्रज-भाषाके ही कई रूप उनकी रचनामें मिलते हैं। इसी प्रकार अवधी के स्वरूपोंमें भी भिन्नता पाई जाती है। मानसमें भावोंकी गहराईका अच्छा निदर्शन है। मुख्यतया बाल, अयोध्या और उत्तरकांडोंमें बहुत ही सुन्दर भाव पाये जाते हैं। भाषा और भाव दोनों ही इनकी रचनामें उत्कृष्ट मिलते हैं।

गोस्वामीजी ने अनेक गूढ़ अर्थवाले दोहे रचे हैं। इसमें सूर के गूढ़ पदोंके अनुकरणकी भावना जान पड़ती है। जब गोस्वामीजी ने सभी प्रकारकी शैलियोंका अनुकरण किया है, तब सूरके गूढ़ पदोंका अनुकरण करना भी स्वाभाविक है। साठ-सत्तर दोहे ऐसे हैं, जिनमें अर्थ छिपा हुआ है। यहां पर एक दोहा दिया जाता है--

" हंस कपट रस-सहित गुन, अन्त आदि प्रथमन्त।
भजु तुलसी तजि वाम गति जेहि पद रत भगवन्त॥" सतसई, ३-२८

हंस = मराल, इसका अन्त = "ल"। कपट = छल, इसका आदि "छ"। रस = मकरन्द, इसका आदि "म"। गुन = तीन इसका अन्त "न" इन चारोंको मिलानेसे लछमन हुआ। इसका मन जिन चरणोंमें निरत है उन्हीं "राम", का भजन कर। इसी प्रकारके गूढ़ार्थ-वाची दोहे हैं।

तुलसीदासजी ने चातककी प्रशंसा बहुतसे दोहोंमें की है। इसके प्रेमको बहुत ही निःस्वार्थ तथा महत्वपूर्ण बतलाया है। यहां पर केवल एक दोहा दिया जाता है--

"चरग-चंचुगत चातकहि नेमप्रेम की पीर।
तुलसी परवस हाड़ मम परि हैं पुहुमी नीर॥" सतसई, १-१०३

भावार्थ--चातकको बाजके पकड़ने पर भी अपने नियम और प्रेमकी ही पीड़ा

है। फिर मरने पर चाहे उसकी हड्डियां पृथ्वी पर पड़ें अथवा जलमें अर्थात् जीतेजीं वह अपने प्रणको पूरी तरहसे निभाता है।

गोस्वामीजी ने तीर्थोंकी दुर्दशा और देव मन्दिरोंकी भ्रष्टता देखकर कलियुगके प्रभाव का उनमें आरोप किया है—

"सुरसदनन तीरथ-पुरिन निपट कुचाल कुसाज।
मनहुं मनासे मारि कलि राजत सहित समाज॥" सतसई ७-६१

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी के समयमें तीर्थोंमें पापाचार और मन्दिरोंमें भ्रष्टता खूब फैली थी। वह कहते हैं—मानों कलि ने अपने समाज सहित उन्हें अपना गढ़ बना लिया है। इस कलिसे वे ऐसे भयभीत थे कि विनय-पत्रिकाका पूरा ग्रन्थ ही भगवान् राम के लिए प्रार्थना-पत्रके रूपमें लिख डाला।

गोस्वामीजी उर्दू भी जानते थे। इस विषयका एक दोहा यहां उद्धृत है—

"नाम जगत सम समुझि जग, वस्तुन करि चितवै न।
बिन्दु गये जिमि ग़ैन ते रहत ऐनको ऐन॥" सतसई, ४-७१

वासनाप्रधान होनेसे ही बिन्दु रूपमें जीवको संसारमें आना पड़ता है। जैसे ग़ैन का विन्दु दूर हो जानेसे ऐन रह जाता है, वही दशा जीवकी समझनी चाहिए। स्पष्ट है कि वे उर्दू अक्षरोंसे भली भांति परिचित थे। उन्होंने अपनी रचनाओंमें भी उर्दू भाषाका प्रयोग किया है। लगभग ३००-४०० शब्द पाये जाते हैं। उक्त दोहेमें बिन्दु शब्दके श्लेषने चमत्कार पैदा कर दिया है।

गोस्वामीजी ने अपने ३-४ ग्रन्थोंको छोड़कर शेष ग्रन्थोंमें रचना-काल नहीं दिया। इस सतसईका रचना-काल इस प्रकार है—

"परमातम पद राम धुन तीजे सन्त सुजान।
जे जग माँहि विचरहिं धरें, देह विगत अभिमान॥ सतसई, २-६१
चौथी संज्ञा जीवकी सदा रहत रत काम।
ब्राह्मणसे तन रामपद निसि वासर वसु जाम॥" सतसई, २-६२

जीवके सम्बन्धमें विवेचन करते हुए कहते हैं कि जो परमात्मामें निमग्न रहते हैं, राम की भक्ति करते हैं और सन्तोंके समागम में अभिमान से रहित हो विचरण

करते हैं। वे ही श्रेष्ठ जीव हैं। जब इन तीनोंसे अलग होकर जीव काममें रत रहता है, तो ब्राह्मण-सा शरीर, जो रामपदमें लीन रहना चाहिए, स्त्रीका वशवर्ती बन जाता है। इस प्रकार ये दोहे एक दूसरेसे सम्बन्धित हो गए हैं।

गोस्वामीजी ने मुसलमानोंके प्रति कुछ घृणाका ही भाव रखा है। विनय-पत्रिकामें गोस्वामीजी की इस भावनाका अच्छा परिचय मिलता है। पर तुलसी-सतसईमें भी संकेत रूपमें कुछ भाव व्यक्त किये गये हैं। ग़ाज़ी मियां की पूजाका विरोध उन्होंने तीव्रता से किया है। और यह बात उनकी ठीक ही जान पड़ती है। यहां पर दो दोहे सतसईसे प्रस्तुत हैं जिनमें यवन बादशाहकी तीव्र भर्त्सना की गई है—

> **"गोंड गँवार नृपाल जग यवन महा महिपाल।**
> **साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल॥** सतसई, ७-६३
> **काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल।**
> **पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमीपाल॥"** सतसई, ७-६४

प्रथम दोहेमें गोंड-भील राजाओंके साथ यवन अकबर-शाह की भर्त्सना की गई है। कहा गया है कि वह केवल कराल दंडसे ही शासन करता है यद्यपि यह आक्षेप नितान्त मिथ्या है। अकबर की नीति हिन्दू-परस्त थी और उसमें हिन्दू-सभ्यताका ही पुट अधिक दिखलाई देता है।

इस विषयमें दुरसा कविका उदाहरण पर्याप्त है। वह राणा प्रताप का परम भक्त था और उनकी प्रशंसामें अनेक छन्द रचे हैं, पर अकबर का दरबारी कवि होते हुए भी उसने एक भी छन्द अकबर की प्रशंसामें नहीं लिखा। इस पर भी अकबर उसकी खूब खातिर करता और पुरस्कार भी देता था। ऐसी नीति बर्तनेवाले बादशाहको केवल दंडधर शासक कहना अन्याय है। इसी प्रोपेगंडाके सहारे गोस्वामीजी ने हिन्दू-मुसलमान-मेल की आधार-भित्तिको भूमिसात् कर दिया था। इसकी प्रतिक्रिया मुसलमानोंमें भी अत्यन्त भीषण हुई तथा औरंगजेब जैसा घोर प्रतिक्रियावादी शासक उत्पन्न हुआ। इस भावनाको हिन्दुओंको समझना चाहिए तथा ऐसी नीति बर्तनी चाहिए, जिससे देश क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाय।

दूसरे दोहेमें तो तुलसीदास ने अकबर पर और भी भयंकर आक्षेप कर डाला है और उसे कठिन भारी तोपके गोलेके रूपमें सिद्ध किया है, जिसका काम केवल संहार और विनाश करना भर ही है। इसमें उसके पापको पलीता और उसके अन्यायोंको

बारूद तथा उसके समयको तोप चलानेवाला और तोपको पृथ्वीका रूपक दिया है।

अकबर ने केवल दुरसाके ही साथ सद्व्यवहार नहीं किया था, राजा पृथ्वीराज कविके विषयमें भी वही बात थी।

अकबरकालीन बादशाहतका शासन नितान्त हिन्दुओंके हाथमें था। महाराज मानसिंह उसके प्रधान सेनापति थे। राजा टोडरमल मालमंत्री और बीरबल वैदेशिक मंत्री थे। इससे आप अकबर की नीतिका अनुमान कर सकते हैं। अबुलफ़ज़ल, फ़ैज़ी और रहीम खानखाना हिन्दू-विचार रखनेवाले मुसलमान मंत्री थे। ऐसी शान्ति और अमनका राज्य न पहले देखनेमें आया और न उसके बाद ही। सूर और तुलसी जैसे महाकवि उत्पन्न होने का प्रधान कारण ही यह शान्तिमय शासन था। कोई भी न्यायशील मनुष्य उक्त आक्षेप का समर्थन नहीं कर सकता। इसीलिए राष्ट्रीय महाकवि भूषण ने इस बादशाहकी राम जैसे महानुभावसे तुलना कर डाली है। परमात्मा हिन्दू जातिको सुबुद्धि दे कि वह यथार्थताको समझनेका प्रयत्न करे और सत्पथका अनुगमन कर सके।

१६

जानकी-मंगल

जानकी-मंगल और पार्वती-मंगलके मंगलाचरणमें बहुत समानता है। कविने दोनों ग्रन्थोंकी एक ही छन्दमें रचना की है। भाषाके विचारसे पार्वती-मंगल अधिक परिष्कृत है, अतः जानकी-मंगल पहलेका लिखा हुआ मानना चाहिए।

इस ग्रन्थमें भावनाओंका क्रम कुछ गहरा है। मुख्य-रूपसे राम-सीता मिलनमें जो प्रेम का विकास दिखलाई देता है वह शिव-पार्वती के मिलनमें नहीं है। राम-सीता के विवाहमें वर्णव्यवस्थाका तुलसीकी इच्छाके अनुसार विधान मिलनेसे वह अधिक अनुकूल हो गया है। फिर युवावस्थाकी उमंग भी दोनोंके अनुकूल थी। इस लिए जानकी-मंगलमें प्रेमकी भावनाका बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण है।

धनुष-यज्ञमें जो राजा आये हैं उन्हें पुरन्दरकी उपमा दी गई है। चूंकि इन्द्र सर्वत्र हारता ही रहा है, अतः उन राजाओंकी हारकी सूचना इस प्रकारसे देना ही कविको अभीष्ट था। इसीलिए वह कहता है--

"मनहुं पुरन्दर निकर उतरि अवनी चले ॥" १०

नगरके कोलाहल और आवागमनका चित्र भी बहुत ही सुन्दर है। यथा --

"एक चलहिं इक बीच एक पुर पैठहिं" ॥ १२

इस प्रकार राजाओंका तांता बांधकर उत्सवका अच्छा दृश्य दिखलाया है। साथ ही असफलताका निश्चय भी उन्हें करा दिया है।

जब विश्वामित्र अवधमें राम लक्ष्मण को मांगनेके लिए गये तब राजाके व्यवहार और रामके रूप, दोनोंसे ही वे बहुत सन्तुष्ट थे।

यथा—"रामहिं भाइन्ह सहित जबहिं मुनि जोहेउ।
नैन नीर, तन पुलक, रूप मन मोहेउ॥" २०

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी बलिष्ठताकी अपेक्षा सौन्दर्यको अधिक महत्त्व देते थे। नहीं तो इस अवसर पर रामके शारीरिक गठन और वृषभकन्ध शरीर पर मुग्ध होना चाहिए था।

कविने जानकी-मंगलमें उपमाएं भी अच्छी दी हैं। वे विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण को जाते देखकर कहते हैं—

"कियो गमन जनु दिननाथ उत्तर संग मधु माधव लिये॥" ३६

मिथिला उत्तर दिशामें है और सूर्य का उत्तरायण होना उनके तप तेजका द्योतक भी है। मधु-माधव (चैत-बैसाख) वसन्त का साथ कहकर राम-लक्ष्मण का एक ही अंशमें से होना बड़े ही अच्छे ढंगसे दिखलाया गया है। ऐसी उपमाएं खूब प्रयुक्त हुई हैं।

फिर राक्षस और दुष्ट चाहे स्त्री ही क्यों न हो दंडनीय है, इसे भी अच्छा व्यक्त किया गया है—

"बधी ताड़िका, राम जानि सब लायक।
विद्या-मंत्र-रहस्य दिये मुनिनायक॥" ४०

एक आततायी स्त्री को निःसंकोच मार देनेसे विश्वामित्र ने राम को सब प्रकारसे योग्य समझा, क्योंकि उनमें संकुचित विचार नहीं थे। इसीसे विश्वामित्र ने उन्हें अस्त्र-शस्त्र आदि की विद्या दी।

कवि जनक को राम की सुन्दरता पर मुग्ध करके सांसारिकताको महत्त्व देना चाहता है। इसीलिए कहता है—

"प्रमुदित हृदय सराहत भल भव सागर।
जहं उपजहिं अस मानिक, विधि बड़नागर॥" ४७

साथ ही राम को रचनेसे ब्रह्मा की चतुरताकी भी प्रशंसा करता है।

गोस्वामीजी ने सौन्दर्य और बलका समन्वय भी करनेका प्रयत्न किया है। कहते हैं—

"सुचि सुजान नृप कहहिं, हमहिं अस सूझइ।
तेज प्रताप रूप जहं तहं बल बूझइ॥" ६६

जहां तेज, प्रताप और रूप होता है वहां बल भी पाया जाता है। चूंकि तेज और प्रताप भी शक्तिके द्योतक हैं और रूपके साथ सदाचारिता भी साधारणतया पाई ही जाती है, जो कि शक्तिका साधन है, अतः गोस्वामीजी का यह कथन अंशतः अवश्य सत्य है।

परन्तु केवल सौन्दर्यका विश्लेषण जीवनको ऊंचा नहीं उठा सकता। उसके लिये शक्तिका चित्रण और बलका विवेचन ही समाजके लिए श्रेयस्कर होगा। केवल सौन्दर्य तो शक्तिका द्योतक कदापि नहीं होता। फिर कवि शरासन टूटनेका विश्वास दिलाकर कहता है कि लज्जित होकर राजसमाज अपने-अपने घर चला जायगा और उसकी 'नाक असि फूटिहि—इज्जत नष्ट हो जायगी।

फिर कवि कहता है राजवचन सत्य होना ही चाहिए। इसके विना उसका कुछ महत्त्व ही नहीं रहता। यथा—

"नृप न सोह बिनु बचन, नाक बिनु भूषन॥" ७४

यद्यपि वर्तमान समयमें गहनोंकी चाल जाती सी रही है, पर गोस्वामीजी के समय में तो खूब प्रचलित थी। अतः इस अंशमें भी सामयिकता कम नहीं होती। कविने मानस में एक उपमा दी है—

"जनु तहँ बरसि कमल सित स्रेनी।" मानस

पर इस उपमामें वैज्ञानिक भूल समझ कर जानकीमंगलमें इसके भीतर कुछ संशोधन किया गया है—

"नील कमल सर स्रेनि नयन जनु मारहिं"।

मानस का श्वेत कमल मंगलमें नील कमल हो गया है। दृष्टि सफ़ेद नहीं होती। नेत्र श्याम ही अच्छे माने जाते हैं, अतः दृष्टिका स्वरूप भी इसी रूपका हो सकता है। इसलिए कविने इसमें संशोधन कर लिया है। इसमें दृष्टिकी सरसे उपमा देकर और भी मनोहरता लाई गई है। इससे भी हमें समझ लेना चाहिए कि मंगल मानससे बादकी रचना है। जो इसे मानस से पूर्वका मानते हैं वे भूल करते हैं।

नृप नहुष के बारेमें गोस्वामीजी ने एक विशेष घटनाका उल्लेख किया है। यथा—

"नृप नहुष ज्यों सबके विलोकत बुद्धिबल बरबस हरै।" ९६

इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास का पुराणोंका अध्ययन बहुत गहरा था, जिसके कारण अनेक अन्तर कथाएं और उदाहरण उनकी रचनाकी शोभा बढ़ा रहे हैं।

कविने पार्वती के पवित्र मनकी दृढ़ताका बहुत सुन्दर निरूपण किया है। गोस्वामीजी कहते हैं—

"पारबती मन सरिस अचल धनुचालक"॥ १०४

कविने पार्वती के मनकी दृढ़ताके समान धनुषकी दृढ़ता दिखलाई है और शिवजी को एक नारी-व्रत पालक बतलाया है। इस प्रकार कविने शिव-पार्वती की महत्ता का अच्छा चित्रण किया है।

नागरीप्रचारिणी सभाकी छपी हुई प्रतिमें नं० १०८ से लेकर ११३ तकके ६ पद्य अन्य हस्तलिखित प्रतियोंसे अधिक हैं। सम्भव है कि गोस्वामीजो ने इनको पीछेसे रचकर मिलाया हो। इनमें धनुष तोड़नेके समयका चित्रण किया गया है और इस वर्णन को मानससे मिला दिया है।

जब धनुष टूट गया तो कुलगुरु को सूचना देने अवध भेजा है। इस प्रकार मानससे कुछ भिन्नता कर दी गई है। परशुराम से राम का मिलन भी बारातके लौटने पर करवाया गया है। यथा—

"पन्थ मिले भृगुराज हाथ फरसा लिये॥" १६६

इससे स्पष्ट है कि कवि इनके ग्रहण और त्यागमें सुधार और क्रम-विकासकी भावना नहीं रखता। वरन् कवि-स्वतंत्रताका उपयोग करता है। इसीलिए इस आधार पर पुस्तक-रचनाका क्रम मानना भूल है।

कविने जानकीमंगलमें शृंगारप्रियता अपेक्षाकृत कुछ अधिक दिखलाई है। यहां तक कि चक्रवर्ती राज्य पर सुराज्यके महत्त्वको भी वह इसीके अन्तर्गत वर्णन करता है। देखिए—

"चक्कवें लोचन रामरूप सुराज-सुख-भोगी भये॥" १५३

अर्थात् चक्रवर्ती नेत्र रामरूपी सुराज्य पाकर सुखका उपभोग करते हैं। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी चक्रवर्ती शासनसे सुराज्यको श्रेष्ठ समझते हैं।

कविने विवाहके अवसर पर प्रचलित निकृष्ट रीतियोंका भी समर्थन किया है। देखिए—

"जुआ खेलावत कौतुक कीन्ह सयानिहू।
जीति-हारि-मिस देहिं गारि दुहुँ रानिहू॥" १६८

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी विवाहमें जुआ खिलाना उचित समझते थे। पर जुआ समाजके लिए घोर घातक चीज है। इसी दुर्गुण ने युधिष्ठिर और नल को कैसा बरबाद कर दिया था, यह सभी जानते हैं।

साथ ही जीत-हारके बहाने दोनों ओरकी रानियोंको गाली दी जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि वे बुराइयोंको भी समाजमें प्रचलित रहने देना चाहते हैं और इन बातोंमें सुधारकी आवश्यकता नहीं समझते। इस प्रकार जहां गोस्वामीजी के चित्रणमें अनेक महत्त्वपूर्ण और साहित्यिक भावनाएं व्याप्त हैं वहां उनमें कुछ सुधारकी भी आवश्यकता वांछनीय हैं। सदाचारकी वृत्तियोंको जगाना और जीवनदान करना कविका प्रधान कर्त्तव्य है। कविने इस रचनामें परिष्कृत भावनाका कुछ कम विचार किया है, फिर भी अश्लील रूप नहीं आने दिया। यही गोस्वामीजी की विशेषता है।

१७

पार्वती-मंगल

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें गोस्वामीजी गुरु, सरस्वती और गणेशकी वन्दना करते हैं। फिर धनुषधारी राम और सीताका ध्यान धरकर ग्रंथ प्रारम्भ करते हैं। वे गुरुको शंकर का रूप मानते थे। अतः प्रतीत होता है, वे बड़े ही विनम्र और शिष्टाचारको माननेवाले थे। वे कहते हैं—

"कवित रीति नहिं जानहूँ कवि न कहावउँ।
शंकरचरित सुसरित मनहिं अन्हनावउँ॥" ३

अर्थात् मैं कवि नहीं हूं और काव्यकी रीतिको भी नहीं जानता। केवल शंकर-चरित्र की नदीमें मनको स्नान कराना चाहता हूं।

गोस्वामीजी ने इस ग्रन्थका रचना-काल स्वयं दे दिया है—

"जयसंवत फागुन सुदि पांचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउं मंगल सुनि सुख छिनु छिनु॥" ५

यह जय संवत् सं० १६४३ है। बार्हस्पत्य गणनाका यह संवत् है। ६० वर्षोंमें फिर वही संवत् आ जाता है। ये संवत् ब्रह्मा, विष्ण, और शिव के नामसे तीन बीसियोंमें विभाजित हैं। इस ग्रन्थकी रचना सं० १६४३, फाल्गुन शुक्ल ५, बृहस्पतिवार, अश्विनी नक्षत्र में हुई थी।

चूंकि जानकी-मंगलकी अपेक्षा पार्वती-मंगलकी रचना और कथा अधिक सुसंगठित व परिष्कृत है, अतः इसे जानकी-मंगलके बादकी रचना समझना चाहिए।

इस रचनाम हिमालय पर्वत, मैना, पार्वती (पर्वतकी शोभा) ऐसे नाम हैं, जो अलंकार रूपमें व्यक्तियोंके लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं--

"गुननिधान हिमवान धरनि धरधुर धनि।
मैना तासु धरनि घर त्रिभुवन तियमनि॥" ६

एक प्रसिद्ध महाराष्ट्र विद्वान्ने इसी हिमालयके आधार पर महादेवकी कल्पना भी कर डाली है और शिव व पार्वती के सब नाम हिमालयसे ही घटित बतलाये हैं।

कविने जन्म-कालसे ही पार्वतीजी की सुन्दर व्यवस्थाका चित्रण किया है और उन्हें भाग्यशालिनी बनाया है। उनका सौन्दर्य अद्वितीय और गुण अनुपम दिखलाये गये हैं। इसीसे कविने कहा है--

"मंगल खानि भवानि प्रगट जबतें भई।
तबतें ऋधि सिधि संपति गिरि-गृह नित नई॥" ८

एक बार जब नारद ने आकर हिमालयसे उनकी कन्याकी प्रशंसा की और उसे बड़ी ही भाग्यशालिनी बतलाया। फिर कहा कि इसको बावला पति मिलेगा। इस पर पार्वतीके माता-पिताको दुःख हुआ। उन्होंने नारद से उपाय पूछा। उन्होंने कहा, शिवजी से विवाह हो जाने पर यह दोष स्वयं मिट जायगा और वह दोष ही गुण बन जायगा। इस प्रकार कविने उत्सुकता दिखाकर बड़े अच्छे ढंगसे काव्यको विकसित किया है।

फिर नारद के उपदेशसे पार्वतीजी शिवजी की आराधना और सेवा करती हैं। उस समय शिवजी की प्रशंसा करते हुए कविने कहा है--

"गुन रूप जोबन सींव सुन्दरि निरखि छोभ न हरि हिये।
ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये॥" २७

इसी अर्थका कालिदास का भी एक श्लोक है --

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा.॥"

कुमारसम्भव

गोस्वामीजी संस्कृतके अच्छे पंडित थे, इसीसे उन्होंने कालिदास के भावको ज्योंका त्यों यहां पर उद्धृत कर दिया है।

गोस्वामीजी ने शिवजी द्वारा कामदेव के भस्म होने पर जो पार्वती का चित्रण किया है, वह भी देखने योग्य है—

"उमा नेह बस विकल देह सुधि बुधि गई।
कलपबेलि बन बढ़ति विषम हिम जनु हई।।" ३२

इस काम-दहनकी सूचना हिमालयमें घर-घर फैल गई। इससे मैना-हिमालय बहुत दुखी हुए और पार्वती से घर चलनेको कहा, पर वे दृढ़निश्चय थीं। सबको समझाकर पार्वतीजी ने लौटा दिया और फिर उग्र तप करने लगीं।

पार्वतीजीकी उक्त विचारधारा रामचरितमानसमें वर्णित कथनसे भिन्न है। इससे स्पष्ट है कि वे काव्य रच रहे थे, इतिहास नहीं, और न स्मृति-ग्रन्थ ही।

फिर शिवजी ने स्वयं परीक्षा न लेकर सप्त ऋषियोंको परीक्षाके लिए भेजा है और आकाशवाणी द्वारा पार्वती की सफलता बतलाई है। अन्तमें सप्त ऋषियोंको हिमालयके यहां विवाह पक्का करनेको भेजा है। कविने इस मिलनका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। बटुको शिवरूपमें देखकर जो पार्वतीजी को अलौकिक आनन्द हुआ है, उसे शिव के ही शब्दोंमें सुनिए—

"सैलकुमारि निहारि मनोहर मूरति।
सजल नयन हिय हरषु पुलक तन पूरति।।" ७७

इससे स्पष्ट है कि कवि प्रेम-चित्रणमें भी कितनी गहराई तक जाता है। फिर भी परिष्कृत भावनाको नहीं छोड़ता। बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण है।

विवाहके अवसर पर फिर मैना को शिव का वेष व बरात देख दुःख होता है। पर हिमवान् "ईसान महिमा अगम निगम न जानई।" कहकर उसे समझा देते हैं। फिर शम्भु बहुत सुन्दर रूप धारण कर लेते हैं। यह चित्रण भी देखिये—

"नील निचोल छाल भइ फनि-मनिभूषन।
रोम-रोम पर उदित रूपमय पूषन।।" १२५

विवाहमें नील निचोल अनार्यत्वका द्योतक है। इस विवाहका सारा ढंग द्विज-समाजसे भिन्न अंकित किया गया है।

फिर उनके गण भी "मंगल वेष मदन मनमोहन" बन जाते हैं। यह चित्रण भी बड़ा

ही आकर्षक है। गोस्वामीजी ज्योतिषको बहुत महत्त्व देते हैं, इसीसे लग्न-काल न टल जाय, इसके लिए बहुत उत्सुकता प्रकट करते हैं। फिर विवाहके बाद ही जेवनार होती है, जिसका चित्रण भी अच्छा है। पर गोस्वामीजी गारी गवानेको भी अवश्य महत्त्व देते हैं। इस अवसरमें नहीं चूकते। विवाहके अवसर पर गाली गानेकी प्रथा गोस्वामीजी के समयमें भी थी।

विवाहके बाद ही दूसरे दिन हिमवान्ने बरात विदा कर दी। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी शिव और रामके विवाहमें अन्तर दिखाना चाहते हैं।

इस भावनाको वे शाखोच्चारके अवसर पर और भी स्पष्ट कर देते हैं—

"साखोच्चार समय सब सुर मुनि बिहँसहिं॥" १४३

इस हँसनेका कारण स्पष्ट है। शिवजीके माता-पिताका कोई पता नहीं। और शाखोच्चारमें वर-कन्या दोनों ओरसे तीन पीढ़ीका वंश वर्णन होता है। अतः शुद्ध वंशज न होनेसे गोस्वामीजी ने उनकी खिल्ली उड़वाई है। इससे उनकी उस भावनाका और भी स्पष्टीकरण हो जाता है, जिसे वे जन्मपरक वर्ण-व्यवस्थाके कारण हृदयमें स्थान दिये हुए थे। वे इस भावनाको "गुरु पितु मातु महेस भवानी" के प्रति भी व्यक्त कर देते हैं।

शूद्रोंमें एक दिन ही बरात रहती है। दूसरे दिन उसकी विदा हो जाती है। सम्भव है, महेशको उसी कोटिमें लाकर रखा हो।

गोस्वामीजी गार्हस्थ जीवनमें वर्ण-व्यवस्था जन्मपरक मानते हैं, जैसा कि भूमिकामें वर्णित है, पर सन्त मतमें सबका पद वे बराबर समझते हैं और उसमें रामका भक्त होनेसे प्रत्येक व्यक्ति पवित्र समझा जाता है। चूंकि महादेव भी रामके उपासक थे, अतः उन्हें भी पवित्र माना गया है और उनका चित्रण वर्ण-व्यवस्थारहित सन्त मतके अनुसार किया गया है। गम्भीरतापूर्वक सूक्ष्म दृष्टिसे गोस्वामीजीका अध्ययन करनेवालोंको इसका आभास सुगमतासे मिल सकता है। इसीलिए महादेवजी द्वारा कभी सन्ध्यावन्दन आदि वैदिक कृत्य गोस्वामीजीने नहीं कराये। यही नहीं, उनके साथ भूत-प्रेत-पिशाचोंकी मंडली देकर और भी स्पष्टीकरण कर दिया है। इस सन्त मतकी भावनामें यद्यपि शूद्रत्व गोस्वामीजीने नहीं माना, फिर भी वर्णरहित समाजकी उद्भावना उसमें निहित है, जिसे वे नाथ आदि सम्प्रदायोंमें सदा से देखते चले आये थे।

उन्होंने मैना के मुखसे "नारि-जनमु जग जाय" कहलाकर स्त्रियोंकी पराधीनता और हीनताका सच्चा चित्र खींच दिया है। मानव-समाज सहस्रों वर्षसे स्त्रीको

दासीके रूपमें मानता चला आया है। कन्यादान कराना इस बातका द्योतक है कि स्त्री-जातिको भी उसी प्रकार दान किया जा सकता है, जैसे गाय आदिका दान होता है। वैदिक प्रणालीमें दानकी भावना न होकर पाणिग्रहण किया जाता है और पति-पत्नीको सखा कहा है। अतः यह विचारधारा समाजके लिए उतनी कल्याणकारी नहीं है, जितनी वैदिक कालमें थी।

इस प्रकार पार्वती-मंगलकी रचना साहित्यिक दृष्टिसे बहुत ही विवेचनीय और मनन करनेकी सामग्री देती है।

१८

गीतावली

गीतावली गोस्वामी तुलसीदासकी रचनाओंमें मानसको छोड़कर सबसे बड़ी है। अवतरणिका भागमें इसके निर्माण-काल पर विचार किया गया है। इसकी रचना सम्भवत: सं० १६४४ विक्रममें हुई। इसे निबन्ध काव्यके रूपमें नहीं रचा गया प्रतीत होता। बहुत से फुटकर पद रामचरितके भिन्न-भिन्न विषयोंपर लिखे गये हैं। जब अच्छी संख्या हो गई, तो उनको क्रमबद्ध करके कथानकका रूप दे दिया गया है। जहां पर कुछ कमी दिखलाई दी होगी, वहीं पर अन्य पद रचकर जोड़ दिये गये होंगे। इस प्रकार इस गीतावलीका निर्माण हुआ है। इसका नाम पदावली भी है। इस ग्रन्थके पढ़नेसे प्रतीत होता है कि गोस्वामीजीने मानसमें जिस न्यूनताका अनुभव किया, उसीकी पूर्ति इसमें की है। जैसे भगवान् रामकी बाललीला, जटायु-उद्धार, विभीषणका शरण आना, सीताजीकी विरहावस्था, रामहिंडोला, होली और फाग जैसे सुललित विषयों पर इसमें बहुतसे पद कहे गये हैं। सूरदासने इन्हीं विषयों पर अपने सूर-सागरमें विस्तारसे रचना की है। गोस्वामीजी ने इसमें उन्हींका अनुकरण किया है।

गीता-प्रेसकी प्रतिमें नागरी-प्रचारिणी सभा काशीकी प्रतिसे कुछ पंक्तियां अधिक हैं। अयोध्याकांडके ४३वें पदमें दूसरा चरण अधिक है। वे पंक्तियां ये हैं—

ऋषिवर तहँ छन्द वास, गावत कलकंठ हास,
कीर्तन उन भाय काय क्रोध कुन्दनी।
वर विधान करत गान, वारत धन, मान, प्रान,
झरना झर झिन-झिन जल तरंगिनी।। २

साथ ही इसका चौथा चरण सभाकी प्रतिमें दूसरे नम्बर पर आया है। इस प्रकारका साधारण पाठान्तर दोनों प्रतियोंमें मिलता है। सभाकी प्रतिकी अपेक्षा गीता-प्रेसकी प्रति का पाठ अधिक श्रेष्ठ है। फिर भी अधिक उत्कृष्ट पाठकी अपेक्षा है जिसके लिए इस सम्पादनमें पूरा प्रयत्न किया गया है।

गोस्वामीजी भी सगुणकी अपेक्षा निर्गुणको हेय और समाजके लिए उपयोगी नहीं समझते थे, इसीलिए मानसके उत्तरकांडमें वेदोंके मुखसे कहलाया है—

"जे ब्रह्म अज अद्वैत अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥" मानस, उत्तरकांड

इससे स्पष्ट है कि वे सगुणोपासनाको सदैव बड़ा महत्त्व देते रहे हैं। इसी प्रकार गीतावलीके आरण्यकांडमें मारीचके पीछे दौड़ते हुए रामका चित्रण करते समय वे कहते हैं—

"जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन,
तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवन॥"५ गीतावली, उत्तरकांड, पद ५

जिन वेदोंमें निर्गुण ब्रह्मोपासनाका आदिसे अन्त तक निरूपण किया गया है उन्हीं वेदों का नाम लेकर साकारोपासनाका समर्थन करना ठीक नहीं है। इसका मुख्य कारण यही था कि गोस्वामीजीके समयमें वेदोंका पठन-पाठन लुप्त हो चुका था। साथ ही मुसलमानोंकी दरगाहों या क़ब्रोंका पूजन हिन्दुओंमें भी ज़ोर पकड़ रहा था, इसीसे उस गिरावटसे बचानेके लिए गोस्वामीजीको सगुणोपासना और मूर्ति-पूजनका विधान करना पड़ा। राम और हनुमान्के आदर्शसे समाजमें सदाचारकी प्रवृत्ति बढ़ी और गार्हस्थ जीवनको उत्कर्ष मिला। इस प्रकार हमारा सामाजिक जीवन अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण है। पर वेदोंमें मूर्ति-पूजनका कोई विधान नहीं है। उसे भी गोस्वामीजी ने वेदोंके नाम पर ही प्रचलित किया है।

गोस्वामीजी ने वैदिक संस्कारोंकी अवतारणा अवश्य की है, इसलिए जातकर्म, नाम-करण, यज्ञोपवीत आदि संस्कारों द्वारा समाजको उत्तम विचारधारा देनेका प्रयत्न किया है। यथा—

"जातकरम करि पूजि पितर सुर दिये महिदेवन दान।" गीतावली, बालकांड, पद ८

इसी प्रकार छठे पदमें नामकरणकी चर्चा इस प्रकार है—

"नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सुधाये।" गीतावली, बालकांड, पद ६

इन संस्कारोंके साथ यद्यपि वैदिक भावना बहुत थोड़ी रह गई है, फिर भी इनके सहारे हम अपनी जीवन-प्रणालीको पुन: स्थापित कर सकते हैं। गोस्वामीजीने इन संस्कारों के साथ झाड़-फूंक, टोना-टटका और सैकड़ों प्रकारके लोकाचार बीचमें भर दिये हैं, जिनसे मूर्ख जनताकी भावनाका कुछ रुख अच्छी ओरको मोड़ा जा सकता है। पर उनके समागम से हमारे समाजमें अनेक प्रकारकी कलुषित रीतियों और भद्दे भावोंको भी स्थान मिल गया है। यथा छठीके जागरणमें व्यर्थकी झाड़-फूंक, गन्दे गाने और भ्रष्ट लोकाचारोंका प्रवेश समाजको पतनकी ओर ही ले गया है। फागुनमें तो और भी भद्दापन भरा गया है। यथा—

"लोचन आंजहिं फगुआ मनाइ।
छांड़हिं नचाइ हाहा कराइ।।
चढ़े खरन विदूषक स्वांग साजि।
करैं कूटि, निपट गइ लाज भाजि।।
नर - नारि परस्पर गारि देत।
सुनि हँसत राम भाइन समेत।।"

गीतावली, उत्तरकांड, २२वां पद

गालियां सुनकर रामका प्रसन्न होना समाजको नीचे ही गिरा सकता है। मानसमें ऐसी बात नहीं आई है। इससे अनुमान होता है कि सूर का प्रभाव व सम्मान देखकर ही गोस्वामीजी को ऐसी रचनाके लिए प्रोत्साहन मिला है।

गोस्वामीजी ने वशिष्ठ मुनिको अथर्वणी कहा है। इस अथर्वण वेदमें भूत-प्रेत, झाड़-फूंक, टोना-टटका आदि सैकड़ों प्रकारके विधान आये हैं, जिनको वैदिक आर्य लोग उचित नहीं समझते थे। इसी कारण प्राचीन कालसे वेदत्रयीको ही महत्त्व दिया गया है और चौथे वेदको ऋक्, यजु:, सामके समान नहीं माना गया। इस अथर्ववेदकी रचना आर्योंके भारतके मध्य तक आ जानेके पश्चात् द्राविड़ोंके मिश्रणके फलस्वरूप ही हुई है, जिसमें आर्योंका वैदिक विधान बहुत ही थोड़ी मात्रामें दिखलाई देता है। गोस्वामीजी ने भी अपनी रचनाके लिए इसीका सहारा लिया है। यथा—

"वरे विप्र चहुँ वेद के रविकुल गुरु ज्ञानी।
आपु वशिष्ठ अथरवनी महिमा जग जानी।।"

गीतावली, बालकांड, ६–१०

गोस्वामीजी झाड़-फूंक आदिके बड़े पक्षपाती थे, इसका उन्होंने बार-बार उल्लेख किया है। वशिष्ठ को अथर्वणी वतला कर भी इसकी पुष्टि की है। अवलोकन कीजिये—

"आज अनरसे हैं भोर से पय पियत न नीके।
रहत न बैठे-ठाढ़े पालने झुलावत हू रोवत राम मेरो, सो सोच सबही के।।१।।
देव, पितर, ग्रह पूजिये, तुला तौलिये घी के।
तदपि कबहुँ-कबहुँक सखी ऐसेहि अरत, जब परत दृष्टि दुष्ट ती के।।२।।
वेगि बोलि कुलगुरु छुऔ माथे हाथ अमी के।
सुनत आइ ऋषि कुसहरे, नरसिंह मंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के।।३।।
जासु नाम सरवस सदाशिव पारवती के,
ताहि झरावति कौसिला यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के।।४।।

गीतावली, बालकांड, पद १२

इसी प्रकार आगेके पदमें—

"माथे हाथ ऋषि जब दयो राम किलकन लगे।" कहा गया है।

गोस्वामीजीने कुछ ऐसे पूजा-विधानोंकी चर्चा की है, जो उनके समयमें भी प्रचलित नहीं थे, पर उस कालमें एक किंवदन्ती अवश्य प्रचलित थी कि उदयपुर राणाके पूर्वज वाप्पा रावल गुहादित्य उदयपुरके जंगलोंमें तपस्या करते थे जैसे एकलिंगजी पर एक गायको दूध की धार छोड़ते देखा। उन्हींके अनुकरण पर गोस्वामीजीने गायोंको शिवलिंग पर दुहाया है। गोस्वामीजी ने इसी प्रकारके सहस्रों कथानकों, किंवदन्तियों, कहावतों और मुहावरोंका आश्रय लेकर अपने साहित्यकी रचना की है, जिसका परिचय हमें उनकी एक-एक पंक्तिसे मिलता है। गोस्वामीजीको हम ऐसी भावनाओंका भी समर्थन करते पाते हैं, जो कि हमारे शक्तिवर्धनके लिए वाधक ही नहीं, वरन् समाजमें जनानी भावना भी बढ़ाती हैं। आप गोस्वामीजीके इस पदको देख जाइये—

"सादर सुमुख विलोकि राम सिसु रूप अनूप भूप लियो कनियां।
सुन्दर स्याम सरोज वरन तनु नख-सिख सुभग सकल सुखदनियां।।१।।

पहुँची करनि पदिक हरिनख उर, कठुला कंठ मंजु गजमनियां।
रुचिर चिबुक रद अधर मनोहर ललित नासिका लसत नथुनियां।।"३

इसी प्रकार "रुनझुन करति पायं पैंजनियां" व "कानन नग कनियां" हमें इस कथनके लिए बाध्य करते हैं कि यदि रामका यह रूप वास्तवमें होता तो राम राम बन ही न पाते और रासधारियोंकी मंडलीके एक नटके रूपमें हमारे सामने दिखलाई पड़ते। सबसे अधिक आपत्ति-योग्य वस्तु जो हमें इस रचनामें दिखलाई देती है, वह है "नासिका लसति नथुनियां", जो कि जीवन भर के लिए स्त्रीत्वकी ओर अग्रसर होनेका प्रमाण-पत्र दे देती है। ऐसी ही भावनाओंको लेकर पुरुषसे स्त्रीरूपमें और स्त्रीसे पुरुषरूपमें आनेके उदाहरण अनेक मिलते हैं। इसलिए हम स्पष्ट रूपसे मानते हैं कि रामचरितमानस की अपेक्षा गीतावली रामायण निम्नकोटिकी रचना है, और इसमें उन्हीं बातोंका समावेश किया गया है जो कि शृंगार और कामुकताकी ओर ही हमें अधिक अग्रसर कर सकती हैं। चाहिए यह था कि क्षत्रिय-बालकमें वीरत्व लानेके लिए उन्हीं कहानियों, सदाचारी वृत्तों और ऐसे ही खेलोंका वर्णन किया जाता जो क्षत्रियोचित भावोंसे परिपूर्ण होते। वर्तमान समाजमें भी हम इसी भावनाको ओतप्रोत पाते हैं। शिक्षासे कुछ सुधार अवश्य हो रहा है, पर भविष्यके लिए समाजको ढालनेमें हमें अधिक सतर्क और सावधानीसे काम लेना चाहिए। तभी देश और समाजका कल्याण सम्भव है।

गोस्वामीजीने लड़कपनके कुछ खेलोंकी भी चर्चा की है—

"खेलत अवध खोरि, गोली भौंरा चकडोरि।
मूरति मधुर बसै तुलसी के हियरे।।"

गीता०, बाल०, ४३

ये खेल मनोरंजनके लिए अच्छे हैं, बालकोंके स्वास्थ्य पर भी इनका अच्छा असर पड़ता है। चौगान जैसे खेल तो नितान्त क्षत्रियोचित हैं। ये खेल हमारे भीतर स्फूर्ति, उत्साह और जीवनकी सृष्टि करते हैं। गोस्वामीजीने भी घोड़े पर चढ़कर चौगान (पोलो) खेलनेका उल्लेख किया है। इसी प्रकार शिकार खेलना भी शक्तिवर्धक खेलोंमें है, जो कि समाजको हानि पहुंचानेवाले जीवोंसे रक्षा करता है तथा जीवनके लिए हित-कारक भी माना जाता है। यह खेल युद्धकी तैयारीका भी एक प्रधान अंग है। अतः हमें ऐसे खेलोंके लिए अवश्य प्रोत्साहन देना चाहिए।

गोस्वामीजीने मूर्ति-पूजनकी भावनाका प्रचार करनेके लिए कई प्रकारके प्रयोग किये हैं। सीताजी द्वारा गिरिजा-पूजा करना और भवानीका प्रसन्न होकर वर-दान देना इसी भावका द्योतक है। रामचन्द्रजी द्वारा रामेश्वर पुल पर शिवमूर्तिकी स्थापना कराना तथा प्रह्लाद भक्तके लिए खंभ फाड़ कर नृसिंहदेवका निकलना भी इसकी पुष्टि करता है। अवलोकन कीजिये—

"प्रेम वदौं प्रह्लादहि को जिन पाहन ते परमेसुर काढ़े।"

कवितावली, उत्तर०, १२७

"काढ़ि कृपान कृपा न कहूं पितु काल कराल विलोकि न भागे।
राम कहां? सब ठाउं हैं। खम्भ में? हां, सुनि हांक नृकेहरि जागे।
वैरी विदारि भये विकराल, कहे प्रहलादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति वढ़ी तुलसी तव तें सब पाहन पूजन लागे॥"

कवितावली, उत्तर०, १२८

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी प्रह्लादके समयसे ही मूर्ति-पूजनका आरम्भ मानते हैं। इसमें यद्यपि ऐतिहासिक सचाई नहीं है, फिर भी कविकी कल्पना और भावना की उड़ान अवश्य दिखलाई देती है।

इस रचनामें भी सीताजीने पार्वती-पूजन करके इस भावनाको प्रोत्साहन दिया है। यथा—

"मूरति कृपालु मंजु माल दै बोलत भई,
पूजौ मनकामना भावतो वरु वरिकें॥"

गीतावली, वाल०, ७२-२

गोस्वामीजीने राम और शिवकी एकता द्वारा शैवों और वैष्णवोंकी पारस्परिक विरोधी भावनाओंका नितान्त लोप कर दिया। मानसमें इस भावनाके खूब प्रमाण मिलते हैं। राम कहते हैं—

"शिवद्रोही मम दास कहावै। ते नर नहिं सपनेहुँ मोहि भावै॥"

इसी प्रकार गीतावलीमें भी कहा है—

"सुनियत भव भावते राम हैं सिव भावती भवानि हैं।।"

गीता० बाल०, ८०

गोस्वामीजीने गीतावलीमें धनुष-भंगका वर्णन मानस जैसा ही किया है। यथा—

"राम रुख निरखि लषन की रजाइ पाइ,
धरा, धराधरनि सुसावधान करी है।।
लख्यौ चढ़ावत न तानत न तोरतहू,
घोर धुनि सुनि सिव की समाधि टरी है।।" ५

इसमें भाव ही नहीं, शब्दावली भी वैसी ही आ गई है। राम-वन-गमन पर माताकी आज्ञा गीतावलीके अयोध्याकांडमें कुछ दूसरी प्रकारसे दिलाई गई है। मानसमें जो गहराई दिखलाई देती है वह यहां नहीं है। माता कौशल्या कहती हैं—

"जो सुत तात वचन-पालन-रत जननिउ तात मानिबे लायक।।
राखहु निज मरजाद निगम की, हौं बलि जाउं धरहु धनु-सायक।।" २
"रहि चलिये सुन्दर रघुनायक।"

इससे स्पष्ट है कि कौशल्याजीकी गम्भीर प्रकृतिका रूप गीतावलीमें उथला पड़ गया है। इसमें वे रामको विरोध करनेके लिए उत्तेजना देती-सी जान पड़ती हैं। पर राम का उत्तर यहां भी शालीनतासे भरा हुआ है।

कविने आदिवाराहके चित्रणमें जो सुन्दर रूपककी उद्भावना की है वह बहुत सुन्दर और मनोहारिणी है। देखिये—

"सिखर परसि घन घटहिं मिलति बग पांति सो छबि कवि बरनी।
आदिबराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।।"

गीता०, अयोध्या०, ५०-४

अर्थात् वर्षाकी घटाएं पहाड़की चोटियोंको छूकर जाती हैं, उन पर बग पांति उड़ते हुई ऐसी जान पड़ती है मानो आदिवाराह समुद्रमें विहार करके दांतों पर पृथ्वी धारण करके निकल रहे हों।

पुराणोंमें कथा है कि हिरण्याक्ष दैत्य पृथ्वीको पातालमें ले गया था। वाराह भगवान उक्त राक्षसको मारकर पृथ्वीको दांतों पर रखकर समुद्रसे निकाल लाये थे।

वैदिक वर्णनके अनुसार ब्रह्मांडकी उपमा वाराहसे दी गई है। अग्निने जलकी उत्पत्ति द्वारा भूमिको लुप्त कर दिया अर्थात् उस जलमें भूमि भी अन्तर्हित थी, जिसे ग्रहोंके आकर्षणसे भूमिका रूप मिला था। इसी कथानकके आधार पर हिरण्याक्ष व वाराहकी उक्त पौराणिक कहानी गढ़ ली गई है।

गोस्वामीजीने साधारण प्रचलित कथाओंका चित्रण भी अपनी रचनाओंमें बड़ी खूबी से किया है।

तोता-मैनाकी कहानी हमारे समाजमें बहुत कालसे प्रचलित है। गोस्वामीजीने राम-वन-गमन पर रामके महलोंमें पले हुए तोता और मैनाकी पारस्परिक बातचीत बड़े ही अच्छे ढंगसे कराई है। यथा—

"सुक सों गहवरि हिय कहै सारो।
वीर कीर! सिय राम लखन बिनु लागत जग अँधियारो।।
भैया भरत भावते के संग वन सब लोग सिधारो।
हम पख पाइ पींजरन तरसत अधिक अभाग हमारो।।
सुनि खग कहत अंब! मौनी रहि समुझि प्रेमपथ न्यारो।
गये ते प्रभु पहुँचाइ फिरे पुनि करत करम गुनगारो।।"

गीता०, अयोध्या०, ६६

फिर तोता कहता है—

"अंब! अनुज प्रिय सखा सुसेवक देखि विषाद बिसारो।
पंछी परवस परे पींजरनि लेखो कौन हमारो।।
रही नृप की बिगरी है सबकी एक संवारनहारो।
तुलसी प्रभु निज चरन पीठ मिस भरत प्रान रखवारो।।"

गीतावली, अयोध्या०, ६७

इन दोनों पद्योंमें कविने तोता-मैनाका सहारा लेकर कैसी सुन्दर व्यंजना की है। यही तोता-मैना गन्दे कथानकोंके रूपमें भ्रष्ट साहित्यकी सृष्टि करते रहे हैं। इससे स्पष्ट

हैं कि उपमाएं और वस्तुएं भ्रष्ट नहीं होतीं। कवि उनका प्रयोग अपनी भावनाके अनुसार अच्छा-बुरा करता है। कवि लोग तोतेकी चोंचसे नाककी, मृगकी आंखसे आंख की, हाथीकी चालसे चाल की और धनुषसे भौंहकी उपमा देते हैं, पर महाकवि भूषणने इनका स्वरूप ही बदल कर वीरत्वका चित्रण कर दिया। अतः यह स्पष्ट है कि वस्तुका प्रयोग प्रयोगकर्त्ताकी भावना और व्यवहार पर निर्भर रहता है। वस्तुकी अच्छाई-बुराई नहीं होती।

गोस्वामीजीने गीतावलीमें विरह-वर्णन बहुत विस्तारसे किया है। यद्यपि इस विरह-वर्णनमें भ्रमरगीत आदिकी तरह कलुषता आदि नामको भी नहीं है। कौशल्याजी रामके घोड़ोंका विरह वर्णन करती हुई कहती हैं —

"अली हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे।
लेत हियो भरि-भरि पति के हित मातु हेत सुत जैसे।
बार बार हिहिनात हेरि उत जो बोलै कोउ द्वारे।
लोचन सजल सदा सोचत से खान पान बिसराये।
चितवत चौंकि नाम सुनि सोचत राम सुरति उर आये।

गीता०, अयोध्या०, ८६

फिर कौशल्या कहती हैं—

"राघौ एक बार फिर आओ।
ये वर बाजि विलोकि आपने बहुरौ बनहिं सिधाऔ।। १
भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झांवरे मनहुं कमल हिम मारे।।" २

कैसी सुन्दर व्यंजना और कैसा गहरा विरह-वर्णन है। इसी विरह दशाका चित्रण करते हुए कवि कौशल्याजीसे कहलाता है—

"जिनके विरह विषाद बँटावन खग मृग जीव दुखारी।
मोहि कहा सजनी समुझावति हौं तिनकी महतारी।।"

गीतावली, अयोध्या०, ८५

फिर कौशल्याजी कहती हैं—

"हाथ मींजिबौ हाथ रह्यौ।
लगी न संग चित्रकूटहु तें ह्यां कहा जात बह्यौ॥ १
पति सुरपुर सिय-राम-लखन बन मुनि-व्रत भरत लह्यौ।
हौं रहि घर मसान पावक ज्यों मरिबोई मृतक दह्यौ॥" २
गीता०, अयोध्या०, ८४

इस प्रकार गोस्वामीजीने विरहका बड़ा ही सजीव चित्रण किया है।

गोस्वामीजीने परलोक भावनाको भी बहुत महत्त्व दिया है। भगवान् राम गीध ज़टायु से कहते हैं कि सीताहरणकी बात पिताजीसे मत कहना। यह सूचना तो रावण ही मरकर देगा। कितनी ऊंची स्वाभिमान और विजयकी निश्चयात्मक भावना है।

गोस्वामीजीने अशोकवाटिकामें रामको मुंदरी और सीताजीका संवाद कराया है। यह संवाद बहुत ही अप्राकृतिक-सा है। सीताजी मुंदरीसे राम लषनकी पूरी कथा पूछती हैं और वह मुंदरी उत्तर देकर उनका समाधान करती है। ये दोनों ही बातें बनावटीपनके रूपको स्पष्ट कर देती हैं। इससे अच्छा वर्णन तो रामचन्द्रिकामें केशवदासने किया है। वहां सीता मुंदरीसे कहती हैं—

"श्री घर में वन मध्य मैं तें मग करी अनीति।
ऐ मुंदरी! हम तियन की को करिहै परतीति॥"

कितनी सुन्दर भाव-व्यंजना और चित्रण है।

गोस्वामीजीने युद्धके बाद शत्रुकी नारियोंके रुदन आदिका बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। यथा—

"वैरि वृन्द विधवा वनितनिको देखिबो वारि विलोचन बहिबो।"

गोस्वामीजी शत्रुस्त्रियोंकी उक्त दशाका चित्रण घटनाके घटित होने पर नहीं करते, वरन् हनुमान्जी सीताको समझाते हैं कि इन राक्षसियोंकी ऐसी दशा निश्चय होगी। आप चिन्ता न करें। यही चित्रण भूषणने घटनाके होने पर किया है, जो कि वास्तविकता का द्योतक है। समरमें शत्रुओंके मारे जाने पर यदि उनकी स्त्रियां रोवेंगी नहीं तो करेंगी क्या। पर्दानशीन औरतें तेग लेकर मैदानमें तो जा नहीं सकतीं, अतः उनका रोदन और शत्रुभयसे भागना ही स्वाभाविक है।

हनुमान्‌जीके मुखसे सीताजीकी शारीरिक दशा और विरह-व्यथाका वर्णन सुनकर रामने जो भाव व्यक्त किये हैं वे बड़े ही मार्मिक हैं। कवि कहता है—

> "कपि के सुनि कल कोमल बैन।
> प्रेम पुलकि सब गात सिथिल भये भरे सलिल सरसीरुह नैन।। १
> सियवियोग सागर नागर मनु बूड़न लगौ सहित चित चैन।
> लही नाव पवनज प्रसन्नता बरबस तहां गुनौ गुन मैन।। २
> सकत न बूझि कुसल बूझे बिनु गिरा विपुल व्याकुल उर ऐन।
> ज्यों कुलीन सुचि सुमति वियोगिनि सनमुख सहै विरह सर पैन।। ३
> धरि-धरि धीर वीर कोसलपति किये जतन सके उतरु न दैन।
> तुलसिदास प्रभु सखा अनुज सौं सैनहि कह्यौ चलौ सजि सैन।।" ४

गीता०, सुन्दर०, २१

कितना गहरा विरह-वर्णन है। कृष्णकी तरह एकांगी भाव नहीं है। कविने यह चित्रण सूरकी भावनाको देखकर ही किया है, नहीं तो गोस्वामीजी जैसे मर्यादावादी ऐसा गहरा चित्रण नहीं करते। फिर भी मर्यादाकी बहुत कुछ रक्षा हुई ही है।

गोस्वामीजीने गीतावलीमें विभीषणके रामसे मिलनेका चित्रण कुछ विस्तारसे किया है। रावणके लात मारने पर विभीषण अपनी माता, भाई कुबेर और शिवजीके पास गया है। अन्तमें शंकरके समझानेसे वह रामके पास गया है। मानसमें जो विभीषणका चित्रण हुआ है उसमें बन्धुविरोधका अच्छा कारण न होनेसे जातिद्रोहकी भावनाका दोष गोस्वामीजी दूर नहीं कर सके। उसीका मार्जन गीतावलीमें दिखाई देता है। पर उसके प्रति समाज की जो भावना बँध गई थी वह अब तक दूर न हुई, वरन् अब भी जातिद्रोही व राष्ट्रद्रोही के उदाहरणमें विभीषण को सर्वप्रथम स्थान दिया जाता है। अतः यह यत्न असफल-सा ही जान पड़ता है।

कवि ने गीतावलीमें फाग, चांचरि, हिंडोला आदिका वर्णन विस्तारसे किया है। यहां तक कि अयोध्याकांडके विरहमें भी रूपकके सहारे इसी फागकी उद्भावना की है। यथा—

> "आजु बन्यो है विपिन देखौ राम धीर।
> मानो खेलत फागु मुद मदन बीर।।" गीता०, अयोध्या० ४८

गोस्वामीजीने हनुमान्‌के संजीवनी लाते समय बाण लगने पर भरतसे जो बातचीत

कराई है उसमें एक विशेषता आ गई है। सुमित्राजी शत्रुघ्नको सहायताके लिए भेजती हैं और रामके हितार्थ लक्ष्मणके घायल होने पर गर्व करती हैं।

रामका अयोध्या लौटना और दंडक वन, प्रयाग, चित्रकूट आदि घूमते हुए आना भी नवीनताका द्योतक है। इसमें कविका यही विचार दिखलाई देता है कि एक ही बातको दुहराना वह उचित नहीं समझता। नई प्रणाली आनेसे कुछ प्रतिभाका विकास भी अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

उत्तरकांडमें हिंडोला, फाग, चांचरि आदिका विस्तारसे वर्णन किया गया है। यथा—

"आली री! राघो के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए।"

गीता०, उत्तर०, १८

इसी प्रकार—

"खेलत बसन्त राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज॥"

गीता०, उत्तर०, २२

गीतावलीमें लव-कुश-जन्म व सीता-वनवासकी भी कथा आई है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी कविके रूपमें ही चित्रण करते हैं, धर्मोपदेशकके रूपमें नहीं। पर होली, हिंडोला आदिके वर्णनमें भावोंकी जो सरसता सूर में है वह तुलसी में नहीं है। फिर भी गोस्वामीजीका वर्णन यथेण्ट आकर्षक है।

गीतावलीमें भाषाकी दृष्टिसे गोस्वामीजी और भी सफल हुए हैं। इसमें व्रजभाषा का बहुत ही परिष्कृत रूप मिलता है। मुहावरे भी खूब लाये हैं। यथा—

"नीके नापे-जोखे हैं। खेत कैसे धोखे हैं।" तथा
"साग खाइ जाए भाइ।" गीता०, बाल०, ६५

ऐसे प्रयोग गोस्वामीजीकी रचनामें भरे पड़े हैं। गोस्वामीजीका व्रजभाषा, अवधी, बुन्देली, कन्नौजी सब पर एक-सा अधिकार है। इससे हम सरलतासे यह कह सकते हैं कि भाषा, भाव व चरित्र-चित्रणकी दृष्टिसे कविका प्रयास सफल हुआ है। इसमें कुछ समाज-सुधारकी भावना भी मिलती है। इसीलिए कविका स्थान अनेक दृष्टियोंसे बहुत ऊंचा हो गया है।

१६

कृष्ण-गीतावली

इस गीतावली में कृष्ण-चरित्र संक्षेपमें कहा गया है। कृष्णकी बाललीला और विरह का वर्णन ही विस्तारसे है। कृष्णके मथुरा चले जाने पर जो उद्धव-गोपी-संवाद है उसमें उद्धव-पक्षकी बातें नहीं कही गई हैं, केवल गोपियोंकी बातें ही कहलाई गई हैं, इसलिए संवादका सा आनन्द नहीं आ पाया। फिर भी वर्णनमें मनोहरता और मधुरता दोनों हैं।

गोस्वामीजी ने सूर की भावनाओंमें से केवल दो को ही इस कथानकमें चुना है। वे दोनो ही विषय बड़े मनोहर और सजीव हैं। यथा—

(१) कृष्णका माखन दही चुराना आदि।

(२) गोपियों का उद्धव के समक्ष निर्गुणके विरुद्ध सगुणके महत्त्व की स्थापना करना।

इन दोनों बातोंको लेकर बड़ी मनोहारिणी व्यंजना की गई है। इस कृष्णगीतावलीके अध्ययनसे प्रतीत होता है कि सूर के रामचरित्र-कथन की अपेक्षा गोस्वामीजी कृष्ण-चरित्र-वर्णनमें अधिक सफल हुए हैं। पर इन पदोंमें सूर की झलक तो अवश्य मिलती है, किन्तु वह माधुर्य नहीं है जो सूर के पदोंमें मिलता है।

इस ग्रन्थकी रचना गीतावलीके पश्चात् ही हुई प्रतीत होती है। गीतावलीकी अपेक्षा इसमें क्रम और संगठन अच्छा है। भाषाका परिष्कार भी प्रतीत होता है। अत: अनुमानत: सं० १६४६ में इसका रचनाकाल होना सम्भव है। फिर भी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह समय नितान्त शुद्ध है।

गोस्वामीजीने कृष्ण के बालपनका बड़ा ही सजीव चित्रण किया है—

"छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तूं दे मेरी मैया'
'लै कन्हैया,' 'सो कब?' 'अबहिं तात';
'सिगरियै हौं हीं खैहौं, बलदाऊ कौं न दैहौं,'
सो क्यों भटू तेरौ कहा कही इत उत जात॥
बाल बोलि डहकि बिरावत, चरित लखि,
गोपी गन महरि मुदित पुलकित गात।
नूपुर की धुनि किंकिनी के कलरव सुनि,
कूदि-कूदि किलकि किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात॥"

कृष्णगीता०, पद २

कैसा हृदयग्राही चित्रण है। कृष्ण के बालपनमें रोटी खाने का पूरा चित्र उपस्थित कर दिया है। बालकों में स्वाभाविक ज़िद होती है कि वे अपनी चीज़में से किसीको हिस्सा नहीं देंगे।

यशोदाजी कृष्ण को रस्सीसे बाँधनेका प्रयत्न करती हैं। पर कुलगुरुकी स्त्रीके समझाने पर मान जाती हैं। सूरने इस प्रकारकी मर्यादाका विचार कम रखा है। पर गोस्वामीजी सदैव से मर्यादावादी रहे हैं, उनकी हर रचना मर्यादाकी रक्षा करती है। यथा—

"कुलगुरु तियके वचन कमनीय सुनि,
सुधि भये वचन जे सुने मुनिवर तें।
छोरि लियौ लाय उर, बरषैं सुमन सुर,
मंगल है तिहूँ पुर हरि हलधर तें॥"

कृष्णगीता०, १७

गोस्वामीजी इन्द्र से बहुत नाराज़ थे। इसलिए यहां भी कृष्ण द्वारा उनकी भर्त्संना और मानमर्दन कराया है। जब कृष्ण ने इन्द्र की पूजा हटवा दी तब—

"ब्रज पर घन घमंड करि आये।
अति अपमान बिचारि आपनौ कोपि सुरेस पठाये॥
दमकति दुसह दसहुँ दिसि दामिनि, भयौ तम गगन गँभीर।
गरजत घोर बारिधर धावत प्रेरित प्रबल समीर॥

"बार-बार पवि-पात, उपल घन बरसत बूंद बिसाल।
सीत-सभीत पुकारत आरत गो, गोसुत, गोपी, ग्वाल॥"

गोहार सुनते ही कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठा लिया सबकी रक्षा की।

वनमें कृष्ण गाय चराने जाते हैं। उस समय का वर्णन बहुत ही आनन्दप्रद है। कृष्ण मुरली बजाकर ही गायोंको बुला लेते हैं। छाक आती है और उसे सब मिलकर खाते हैं—

"खेलत खात परसपर डहकत, छीनत कहत करत रोंगटैयाँ।"

इसमें हम एक सजीव आनन्द का अनुभव करते हैं।

गोस्वामीजी ने जिस प्रकार राम की स्तुति कराई है वैसे ही कृष्ण की भी गोपी ग्वालों द्वारा प्रार्थना करवाई है। उसका ढंग भी वही है। यथा—

"गोपाल गोकुल-बल्लभी-प्रिय गोपगोसुतबल्लभं।
चरनारविंदमहं भजे भजनीय सुर-मुनि-दुर्लभं॥"

कृष्णगीता०, २३

ऐसी ही आठ-दस पंक्तियोंमें प्रार्थना है जो कि पढ़ते ही गोस्वामीजी की शैली का स्मरण करा देती है।

कृष्णके मथुरा चले जाने पर गोपियोंकी शिकायत है—

"आपु मिल्यौ यहि भाँति जाति तजि, तन मिलयौ जल-पयकी नाईं।
ह्वै मराल आयो सुफलकसुत लै गयौ छीर, नीर बिलगाई॥"

कृष्णगीता०, २५

गोस्वामीजी जन्मपरक वर्णके मानने वाले हैं। यहां भी वही भावना स्पष्ट झलकती है, यद्यपि यहां का चित्रण स्वाभाविक सा है। गोस्वामीजी नें विप्रलम्भ शृंगारके वर्णन में भी अच्छी सफलता पाई है। वे कहते हैं—

"संतत दुखद सखी, रजनीकर।
स्वारथरत तव, अवहुँ एकरस, मोकौं कबहुँ न भयौ तापहर॥"
निज अंसिक सुख लागि चतुर अति कीन्ही है प्रथम निसा सुभ सुन्दर।
अब बिनु मन, तन दहत दया तजि राखत रवि ह्वै नयन वारिधर॥

इस प्रकार बुराई करके वे कहती हैं कि यह चन्द्रमा मान्य क्यों हो गया। केवल इसी लिए कि "गह्यौ गिरिजावर"।

कहीं-कहीं तो यह विरह सूरदास का अनुकरण सा ही जान पड़ता है। यथा—

"बिछुरत श्रीब्रजराज आजु इन नयननि की परतीति गई।
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि ह्वै न गये सखि, स्याममई ॥
रूपरसिक लालची कहावत सो करनी कछु तौ न भई।
साँचेहु कूर कुटिल सित मेचक, बृथा मीनछबि छीनि लई ॥"

अन्त में "पलकनि हठि दगा दई" द्वारा आँखोंके अपराधकी रक्षा कर लेती हैं।

इस प्रकारके मनोहर हृदयाकर्षक चित्रण इस कृष्णगीतावलीमें भरे पड़े हैं। इस ग्रन्थ में यद्यपि कृष्ण के सम्बन्धकी कई बातों का चित्रण किया गया है, फिर भी वियोग-शृंगार का ही प्राधान्य है, और उसका वर्णन भी अच्छा हुआ है।

गोस्वामीजी ने अन्तमें दो पद द्रौपदी की रक्षा-विषयक दिये हैं, जो कि उत्तम हैं। अन्तमें इसी खुशीमें "गहगहे गगन दुन्दुभी बाजी" पद है। इसमें गोस्वामीजी अपने प्रबल शत्रु "कलि" देवताको भी नहीं भूले हैं। कहा है—"लाज गाज उनवनि कुचाल कलि परी बजाइ कहूं कहूं गाजी" अर्थात् कलिकी कुचालसे दुर्योधन आदि पर गाज सी पड़ी और उन्हें लज्जित होना पड़ा। पदके अन्तमें कृष्ण की प्रशंसा करते हुए कहा है—

"जुग-जुग जग साके केसवके समन कलस कुसाज सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति कृष्ण कृपालु-भगतिपथ राजी ?"

कृष्णगीता ०, ६१

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी केवल रामके ही भक्त थे, अन्य की उपासना नहीं पसन्द करते थे, यह गलत है। गोस्वामीजी के सम्बन्धकी अनेक भ्रष्ट और अशुद्ध किवदन्तियां यथार्थता तक हमें नहीं पहुंचने देतीं।

इस अन्तिम पदकी भावना महाभारतकी विचारधारासे अधिक मिलती है। कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी यह कृष्णगीतावली गोस्वामीजी की छोटी, पर उत्कृष्ट रचना है। साथही इससे—

"कहा कहौं छबि आजुकी भले बने हौ नाथ ॥
तुलसी-मस्तक तव नवै, धनुष बान लेउ हाथ ॥"

की किंवदन्ती मिथ्या सिद्ध हो जाती है। यह दोहा है भी नक़ली, गोस्वामीजी का नहीं है और न उनकी रचनाओंमें मिलता है। इस पर विस्तारसे लिखा जा सकता है, पर स्थानाभावसे हम अधिक नहीं लिखते।

२०

बरवै रामायण

यह रामायण अत्यन्त संक्षेपमें रहीम के "बरवै नायिकाभेद" के अनुकरण पर लिखी गई है। अब्दुल रहीम खानखाना सं० १६४६-४८ तक काशीमें सूबेदार थे। उसी समय गोस्वामीजी ने इसे रचा प्रतीत होता है।

इसमें अपेक्षाकृत श्रृंगारिकता अधिक है। इसका कारण रहीम का प्रभाव और बरवै नायिकाभेदका अनुकरण ही जान पड़ता है। इस रचनामें कुछ अन्तिम-कालीन भावना भी कहीं-कहीं दिखलाई देती है। इससे विदित होता है कि यह मृत्युकी भावना बुढ़ापेके कारण उनके हृदयमें आ गई थी।

श्रृंगारप्रियताका एक नमूना देखिये —

"उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनींदे नैन।।" १८

इसमें रतिका इंगित है। स्पष्ट ही वे रहीम और उनकी रचनासे बहुत प्रभावित थे। इसीलिए वृद्धावस्थामें भी वे इस प्रकारकी रचना करनेमें नहीं हिचकिचाये।

उत्तरकांडमें गोस्वामीजी अपने बुढ़ापेको देखकर मृत्युको भी याद कर लेते हैं।

यथा—

"मरत कहत सब सब कहँ 'सुमिरहु राम'।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम।।

तुलसी राम नाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान।।"	६५,६७

इनमें से पहले पद्यमें 'अब' शब्द अवश्य इस बातका द्योतक है कि इस पंक्तिके लिखते समय वे वृद्धावस्थाका अनुभव कर अन्तिम समय राम नामका ही भरोसा कर रहे हैं। साथ ही वे राम नामको ही अपना सबसे बड़ा मित्र मानते हैं जो कि मरने पर सहारा देकर रामपुरमें पहुंचा देता है। यह रामपुर भी सूरदास का गोलोक ही प्रतीत होता है जहां गोस्वामीजी ब्रह्म रूप रामका स्थायी निवास मानते हैं। गोस्वामीजी ने अपनी वैभवसम्पन्न सम्मानित और प्रतिष्ठित होनेकी दशाका भी चित्रण किया है। वे कहते हैं:—

"केहि गिनती महँ? गिनती जस बनघास।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास।।"	५६

इसी भावनाको दोहावलीमें भी एक दोहे द्वारा प्रकट किया है—

"घर घर मांगे टूंक मुनि भूपति पूजे पांय।
जे तुलसी तब राम बिनु ते अवराम सहाय।।"

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी को अपनी इस प्रतिष्ठा-प्राप्तिका उचित और यथार्थ अभिमान था जिसकी चर्चा उन्होंने अपने कई पद्योंमें की है। यद्यपि वह प्रतिष्ठा केवल राम नामके कारण ही नहीं थी। अकबर को हिन्दू-समाजमें प्रविष्ट करानेके लिए जो उद्योग चल रहा था उसमें उनके बाधा पहुँचानेके कारण उन्हें उससे विरत करने व सहानुभूति पानेके लिए महाराज मानसिंह और कुँअर जगतसिंह गोस्वामीजी से मिलने काशी गए थे। 'रहीम' तो उनके मित्र ही थे। इसीसे उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। पर गोस्वामीजी ने इस प्रतिष्ठाका कारण राम नाम और उनकी भक्तिको बतलाया है। गोस्वामीजी कलियुगसे बहुत डरते थे। वे हर बुराईको इसी कलियुगके सिर थोपनेका प्रयत्न करते हैं। अन्तिम कालमें जब अनेक वर्षों तक बीमार रहे तब भी वे इस कलि युगके सिर सारे दोष थोपते रहे।

कलिकी चर्चा उन्होंने हनुमान्-बाहुकमें विस्तारसे की है। विनयपत्रिकामें तो यह कलियुग उनका लक्ष्य ही बन गया था और उसीके लिए लगभग ३८० पदोंका एक प्रार्थना-पत्र ही उन्होंने लिख डाला। इसमें उन्होंने रामको एक महाराजाधिराज के रूप मे चित्रित किया है और उस प्रार्थना-पत्रको स्वीकृत करानेके लिए सियों देवी

देवताओं, राम के अनुचरों, उनके भाइयों आदिकी प्रार्थना अनुनय-विनय और खुशामद की है। यहां तक कि महारानी सीता को भी प्रसन्न करने और सिफ़ारिश करानेके लिए अनेकों पदोंकी रचना कर डाली है। अन्तमें उन्होंने राम से अपनी प्रार्थना पर सही भी करवा ली है। यह है एक भावना जो गोस्वामीजी के हृदय में घर कर रही थी।

गोस्वामीजी ने राम का चित्रण किस रूपमें किया है, इसका भी एक छोटा सा नमूना देखिए—

"कुंकुम तिलक भाल स्रुति कुंडल लोल।
काकपच्छ मिलि, सखि, कस लसत कपोल।।" ८

यह वर्णन सुन्दर सुकुमार राम का ही चित्र अंकित करता है। गोस्वामीजी के चित्रण में पिनाक धनुषको खंडित करनेवाले प्रभूत बलशाली ब्रह्मचारी राम कहीं नहीं देख पड़ते। यही उनके चित्रणमें बड़ी भारी न्यूनता है। वाल्मीकि और गोस्वामीजी के वर्णनमें यह अन्तर स्पष्ट दिखलाई देता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी गोस्वामीजी की इस कमी की चर्चा की है और अपनी रामायणी कथामें इस बातका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथार्थमें देखा जाय तो गोस्वामीजी भक्तकी अपेक्षा कवि और साहित्यिक अधिक थे जिसका आभास उनकी रचनामें पग-पग पर मिलता है। समाजसुधार और राजनीतिक दांव-पेंच भी उनकी रचनामें यत्र तत्र अवश्य मिल जाते हैं। सूपनखा के नाक-कान काटने का संकेत देखिए—

"वेद - नाम कहि, अँगुरिन खंडि प्रकास।
पठयो सूपनखाहि लषन के पास।।" २८

नाक और कानको स्वर्ग व श्रुतिके इशारे से समझाकर उसके खंडित करनेके लिए सूपनखा को लक्ष्मण के समीप भेजा। इससे गोस्वामीजी की सूक्ष्म बुद्धिका अच्छा परिचय मिलता है। साथ ही गंभीर ज्ञानका भी।

राम के विरहमें व्याकुल अशोकवाटिकामें बैठी सीता का जो चित्रण गोस्वामीजी ने किया है, वह तो स्पष्ट ही बरवैनायिका भेदसे प्रभावित है—

"डहकु न है उजियरिया निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम।।३७।।
बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ये अँखियां दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ।।" ३६

इससे हम सरलतया बरवै रामायण पर बरवै नायिकाभेदके प्रभावका अनुमान कर सकते हैं। नायिकाभेदमें संयोग श्रृंगारकी अपेक्षा वियोग (विप्रलम्भ) श्रृंगार ही विस्तार से कहा गया है। सूक्ष्म भावनाओंका अंकन भी उसमें बड़ी योग्यतासे किया गया है। इस बरवै के सुन्दर कांड पर तो स्पष्ट उसकी छाप अंकित है।

अन्तमें राम नामकी महिमा और उसके महत्त्वका भी गोस्वामीजी ने बड़े अच्छे ढंगसे वर्णन किया है। वे उस समय काशीमें रहते थे। अतः काशीश्वर विश्वनाथ महादेव के आधार पर राम नामकी महत्ताका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन किया है। वे कहते हैं कि तारक मंत्रसे ही शिव भगवान् काशीवासियोंको मोक्ष देते हैं—

"राम नामकी महिमा जान महेस।
देत परम पद कासी करि उपदेस।।" ५३

इससे स्पष्ट है कि राम-नाम कितना महत्त्वपूर्ण है, वाल्मीकि मुनि भी राम का उल्टा 'मरा' 'मरा' जपकर ही महात्मा और महाकवि हो गये थे।

गोस्वामीजी की यह छोटी सी रचना बड़ी ही मनोहारिणी, साहित्यिक और भावपूर्ण है। इसमें यद्यपि श्रृंगारिक भावना का ही बाहुल्य है; गोस्वामीजी की छाप भी स्पष्ट है, जिसने इसे रामायण का स्वरूप दे दिया है।

इस काव्यमें रहीम की तरह आलंकारिक ज्ञानका भी गोस्वामीजी ने अच्छा परिचय दिया है। प्रत्येक पंक्तिमें एक-दो अलंकारोंके उदाहरण अवश्य मिल सकते हैं।

२१

कुंडलिया रामायण

गोस्वामी तुलसीदासने यद्यपि रामचरितमानस रचकर अच्छी ख्याति अर्जन कर ली थी और अपनी इस एक ही रचनासे वे विश्व-साहित्यमें उच्च स्थान पा सकते थे, पर उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रणालियोंका अनुगमन कर अनेक प्रकारसे साहित्यकी श्रीवृद्धि करने का प्रयत्न किया।

महाकवि गंग की कवित्त-प्रणाली पर कवितावली रामायणकी रचना हुई। नरहर कवि महापात्र के अनुकरण पर छप्पय रामायण रची गई। पर उसका परिष्कृत और पूरा रूप अब नहीं मिलता। उसके कुछ फुटकर भाग कवितावली आदिमें पाये जाते हैं। रहीमके दोहों और बरवै नायिकाभेदको देखकर दोहावली, सतसई और बरवै रामायण की सृष्टि हुई। जायसीके पद्मावतके आदर्श पर गोस्वामी ने पूरा रामचरितमानस ही लिख डाला है। सूरसागर की गीति-प्रणाली लेकर गीतावली, पदावली, कृष्णगीता-वली और विनय-पत्रिका जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ अवतीर्ण हुए।

ग्रामीण गीतोंका सहारा लेकर सोहरछन्दमें रामलला नहछू भी रच डाला गया है। इसी प्रकार गोस्वामीजी ने स्वामी अग्रदासकी कुंडलिया रामायण और ईश्वरदासकृत 'हालां झालां री कुंडलिया' के अनुकरण पर कुंडलिया रामायण रची। पं० सत्यनारायण पांडेय का यह कथन सत्य नहीं कि कुंडलिया छन्द गोस्वामीजी की निजी सृष्टि है। उससे सैकड़ों वर्ष पूर्वसे ही यह छन्द प्रचलित है। 'प्राकृत पिंगल' और 'पृथ्वीराज रासो' में तो इस छन्दके स्पष्ट रूप मिलते हैं। हां, यह अवश्य प्रतीत होता है कि कुंडलिया छन्दमें कुछ संशोधन करनेके विचारसे कुंडलिया रामायणमें कई प्रकारके कुंडलिया रचे हैं। पर यह

प्रवृत्ति भारतके पूर्वकालीन विद्वानोंमें भी पाई जाती रही है। अतः पांडेयजी के इस कथन में कि "सर्वप्रथम गोस्वामीजी ने ही कुंडलिया छन्दका सूत्रपात करके हिन्दीमें एक मनोहर छन्दको जन्म दिया"। कुछ भी सार नहीं है।

फिर आप कहते हैं कि "किसी कविने कुंडलिया छन्दमें प्रबन्ध-काव्य लिखनेका साहस नहीं किया।" यह कथन तो और भी ग़लत है; क्योंकि अग्रदास स्वामी ने गोस्वामीजी के कुंडलिया रामायण रचनेसे बहुत वर्ष पूर्व ही कुंडलिया रामायण नामक प्रबन्ध-काव्य रच डाला था। अन्तमें पांडेयजी फिर कहते हैं कि "गोस्वामीजी ने रामचन्द्रजी के कुंडलों का ध्यान करके ही कुंडलिया छन्दका नाम रखा है"। इसका खंडन तो स्वतः उक्त विचारधारा ही से हो जाता है। इस प्रकार इस छन्दके आद्य प्रवर्तककी गोस्वामीजी को दी गई उपाधि भी निर्मूल और व्यर्थ हो जाती है।

पांडेयजी ने इस कुंडलिया रामायणके अन्वेषणका सारा श्रेय स्वयं ही लेनेका प्रयास किया है। पर यह नहीं सोचा कि उनके इस अन्वेषणसे ७०-८० वर्ष पूर्व ही प्रसिद्ध राम-भक्त और श्रेष्ठ टीकाकार श्रीबैजनाथ कुर्मी ने इसी गोस्वामी तुलसीदास-कृत कुंडलिया रामायण पर टीका रच डाली थी, जो लखनऊके प्रसिद्ध नवलकिशोर प्रेस में छपी है। तभीसे बरावर पाठकोंको प्राप्त है। इसके ३०-४० वर्ष बाद बंगवासी प्रेसने भी इसी कुंडलिया रामायणका एक संस्करण हस्तलिखित पुस्तकके आधार पर प्रकाशित किया था। अतः इस अन्वेषणका श्रेय श्रीपांडेयजी को नहीं दिया जा सकता।

यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी न कुंडलिया रामायणकी रचना ब्रजभाषामें की है। पर यत्रतत्र उसमें बुंदेली व अवधी भाषाओंका भी कुछ पुट आ गया है। इसके लिए जो उदाहरण पांडेयजी ने दिये हैं उनमें शुद्ध ब्रजभाषाका रूप न लेकर रत्नाकरी ब्रजभाषाका स्वरूप लिया है। यथा—

"वात कहौ डरु डारिकै" व "मांगेहुँ नाव निहोरिकै"

इन दोनों उदाहरणोंमें "कै" का प्रयोग ऐसा किया है मानो 'कै' हुई जाती है। इसका कारण यह है कि पूर्वकालिक क्रियामें ब्रजभाषा का रूप "लिख कैं" "खाय कैं" आदि होता है, पर रत्नाकरजी ने ब्रजभाषाका व्याकरण रचते समय "लिख कै" व "खाय कै" पूर्व-कालिकके रूप दिये हैं। उसी आधार पर उक्त पांडेयजी भी ग़ोता खा गये। इसमें पांडेयजी का दोष नहीं है। हां, उनकी अनभिज्ञता, अपरिपक्वता और अनवधानता अवश्य है

जिसने उन्हें भूल करनेके लिए बाध्य किया। सप्तम्यन्त विभक्ति-लुप्ता पूर्वकालिक क्रिया का यह रूप आभ्यन्तरिक मनोवृत्तियोंमें अवश्य होता है।

गोस्वामीजी के विषयमें एक बात और भी पांडेयजी ने अनभिज्ञतापूर्वक कह डाली है। वह यह कि गोस्वामीजी ने 'सठ' और 'कुमति' आदि शब्दोंका प्रयोग अपनी असमर्थताके कारण किया है। पर वह अपने ही लिए नहीं, दूसरोंके लिए भी इन और इनसे भी भयंकर शब्दोंको काममें लाये हैं। यथा—

कैकेयीके लिए "कुमति केकई कीन" तथा अलखिया सन्तोंके लिए "तुलसी अलखहि का लखै राम नाम जपु नीच" और "पापिनि सबहि भांति कुल नासा" जैसे घृणित और कठोर शब्दोंका प्रयोग भी किया है।

वर्तमानकालीन विद्वानोंने कुंडलिया रामायणको गोस्वामीकृत नहीं माना। अग्रदास की कुंडलिया रामायण होनेसे भी विद्वानोंमें कुछ भ्रम फैल गया हो तो सम्भव है। वास्तव में मिश्रबन्धु महोदय व पं० रामचन्द्रजी शुक्लने इस पर विचार भी नहीं किया और इसे बिना विचारे ही अमान्य ठहरा दिया। पं० रामचन्द्रजी शुक्लका ध्यान जब इस ओर आकर्षित किया गया तो उन्होंने इस रचनाको साधारण रूपमें देखकर ही यह स्वीकार किया कि यह पुस्तक गोस्वामीजी की ही जान पड़ती है—इस पुस्तकमें वर्णित सब बातें गोस्वामीजी के सिद्धान्त के अनुकूल हैं।

स्त्री-शूद्र-निन्दा इस ग्रन्थमें भी उसी तरह है जैसी मानस आदि अन्य ग्रन्थों में वर्णित है। ब्राह्मणोंका पक्षपात और उनका आदर उसी रूपमें यहां भी किया गया है, जैसा अन्य ग्रन्थोंमें है। यथा—

"नारिचरितके भाय विधिहु नहिं जाननहारे" तथा "केहि न छल्यो तरुनी तरल" जैसे भाव अनेक अवसरों पर प्रकट किये गये हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणोंके बारेमें कहा गया है—

"सोइ सुकृती सोइ सूर जाहि द्विज-भक्ति अमायक"
"सो त्रिलोक पावन परम जिनके द्विज-पद-प्रीति"

इनम गोस्वामीजी ने द्विज शब्द केवल ब्राह्मणोंके लिए प्रयुक्त किया है, यद्यपि शास्त्रीय विधानमें 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यके लिए आया है। इससे स्पष्ट है कि संस्कारों का कुछ वैदिक स्वरूप ब्राह्मणोंमें शेष था। क्षत्रिय और वैश्योंमें संस्कार लुप्त हो चुके थे—इसलिए द्विज शब्द केवल ब्राह्मणोंके ही लिए प्रयोगमें आने लगा था। 'संस्कारेण द्विजोत्तमः'

का यथार्थ आधार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंमें निर्धारित था। पर गोस्वामीजी के समयमें यह केवल ब्राह्मणोंमें रूढ़ हो गया था और वर्ण-व्यवस्थाका स्वरूप कर्मपरक न रह कर जन्मपरक माना जाने लगा था, जो कि नितान्त वेद-विरुद्ध है।

गोस्वामीजी ने फूल-वाटिकामें राम सीताका मिलन भी कराया है। साथ ही मान-सिक प्रवृत्तियोंका जागरण संयत भाषामें बड़े अच्छे ढंगसे व्यक्त कर दिया है। इसके बाद ही गिरिवर-पूजनमें मानसकी जैसी ही भावना दिखाई गई है। देखिये—

"आदि अन्त अयलोक तू स्ववस बिहारिनि माय।
······मनोरथ जानहु नीके।" (कुं० रा० बाल का० ६२)
"नहिं तव आदि मध्य अवसाना।
भव भव विभव पराभव कारिनि।।
विश्व विमोहिनि स्ववस बिहारिनि।।
मोर मनोरथ जानहु नीके।।"

इन दोनोंमें विचारोंका ही साम्य नहीं है, भाषामें भी खूब समता पाई जाती है।

गोस्वामीजी ने मानसमें दस हज़ार राजाओंको एकत्र किया और उनसे धनुष उठवाया था। पर किसीसे धनुष नहीं उठा। पर कुंडलिया रामायणमें दस हज़ार भाट इकट्ठे कराये गये हैं, जो धनुष-यज्ञमें राजा जनकके प्रणका विस्तारसे वर्णन करके उन राजाओंको धनुष उठानेसे मना करते हैं जो दुष्ट और चरित्र-हीन हैं। इन दुष्ट राजाओं का विस्तारसे वर्णन किया है। एक छन्द यहां उद्धृत है—

"ऐसे नृप धनु ना गहौ मानहु बचन प्रतीत।"
पुर घेरहिं लावहिं अनल राखहिं नहीं सभीत।।
राखहिं नहीं सभीत मीत मंत्री हित तोरैं।
पितु की बांध्यो सेतु पुन्य सरिसर वृति फोरैं।।
मान मर्दि द्विजधन हरैं तिय बालक बध कुल दहौ।
कहौं पुकारि पसारि कर, ऐसे नृप धनु ना गहौ।। बा० ७५

ऐसा ही वर्णन अनेक छन्दोंमें किया गया है।

गोस्वामीजी ने कुंडलिया रामायणमें परशुराम का मानभंग सभामें ही कराया है। परन्तु विवाहकी सूचना राजा जनकने शतानन्द द्वारा राजा दशरथके पास भेजी है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कविने इन कथानकोंमें भिन्नता लानेके लिए कोई स्पष्ट नियम नहीं रखा था। जहां जैसा उचित समझा वैसा ही उसका प्रयोग कर लिया है। स्पष्ट ही स्वतंत्रता का उपयोग गोस्वामीजी ने किया है।

श्रीबैजनाथ कूर्मीवाली, नवलकिशोरप्रेस लखनऊसे प्रकाशित प्रतिसे पं० सत्यनारायण पांडेय द्वारा सम्पादित और इंडियन प्रेस, प्रयागसे प्रकाशित प्रतिमें बालकांडका नं० १३५ का छंद अधिक है। वह यह है—

"सखि, सुकृती दसरथ भले जाके सुत हैं चारि।
पुनि बिदेह पूरे सुकृत जाकी सिया कुमारि॥
जाकी सिया कुमारि भयौ संघट यह जातें।
हम सुकृतन की रासि लखीं सुकृतन की बातें॥
सुकृतन की बातें लखीं, दसरथ ब्याहन सुत चले।
माड़व तरे बिनोद लखि सखि सुकृती दसरथ भले॥

कविने लहकौरि नामक लौकिक कृत्यको बहुत महत्त्व दिया है। उसका चित्रण एक पूरे छन्दमें किया है। लहकौरिका वर्णन जानकीमंगलमें भी आया है।

इस ग्रन्थमें राजतिलकके पूर्व ब्रह्मा ने नारद द्वारा रामको संदेश भेजा कि आपको सुरकाज करना है। तब रामचन्द्र ने अपनी माया फैला दी और राजतिलककी योजना करवाई जिससे वन जाना अनिवार्य हो जाय।

जब भरत रामको मनानेके लिए चित्रकूट पहुँचे थे उस समय राम ने पिताकी आज्ञा पालनेका आदेश दिया था। इस पर भरतने मंदाकिनी गंगाके किनारे खड़े होकर व जल लेकर प्रण किया कि यदि राम न चलेंगे तो मैं प्राण त्याग दूंगा। इस पर मंदाकिनी स्त्री वेषमें आकर भरतको उपदेश देती है और भरत विवेक हो जानेसे प्रणका परित्याग कर देते हैं। यह कथानक अन्य ग्रन्थोंमें नहीं है।

कुंडलिया रामायणमें जनकका आगमन चित्रकूटमें नहीं दिखलाया गया है। अन्य कई ग्रन्थोंमें भी गोस्वामीजी ने जनककी उपस्थिति चित्रकूटमें नहीं दिखलायी है। रामचरित मानसमें केवल जनकका चित्रकूटकी सभामें विवाद कराया है।

आरण्यकांडमें जयन्तका सीताके अंगमें चोंच मारकर भागनेका वर्णन किया गया है। पर मानसमें पैर में चोंच मारनेका उल्लेख है। अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें भी सीताके वक्षः-स्थलमें चोंच मारनेका वर्णन मिलता है।

लंकासे लौटते हुए राम लक्ष्मण सीता दंडकारण्य व चित्रकूट होते हुए अयोध्याको लौटते हैं। तथा यमुना-स्नान तथा शिवपूजन भी करते हैं। मानसमें गंगास्नान कराया गया है। इसमें गोस्वामीजी ने पुल बांधते समय शम्भुकी स्थापना नहीं कराई। परन्तु लौटते समय पुल पर शिवकी पूजा रामने की है और सीताको पुल दिखलाया है।

इस रामायणमें पद-विन्यास, शब्द-व्यंजना और भाव-निरूपण सभी बातें मानस और दूसरे ग्रन्थोंसे बहुत मिलती हैं। इसकी प्राचीन प्रतियां भी उपलब्ध हैं। अतः इसे गोस्वामीकृत माननेमें साहित्यप्रेमियों और विद्वानोंको कोई हिचकिचाहट न होनी चाहिए। गोस्वामीजी की यह भी एक महत्त्वपूर्ण और सुन्दर रचना है। मनोहारिताको नष्ट होनेसे बचानेके लिए ही गोस्वामीजी ने यत्र-तत्र भावों और कथानकोंमें परिवर्तन कर दिया है। उनके प्रत्येक ग्रन्थमें एक दूसरेसे यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। इन भिन्न विचारधाराओंका अन्तर समझनेके लिए विद्वानों और साहित्यिकोंको इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

२२

विनय-पत्रिका

गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिकाकी रचना वृद्धावस्थामें की थी, इसके उनकी इसी रचना में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। अत: हम साधार कह सकते हैं कि इसको इन्होंने सं० १६६० वि० और १६७० वि० के बीचमें रचा था। विनय-पत्रिकाका विषय एक भक्त कविका भगवान् राजा राम को कलियुगके विरुद्ध प्रार्थना-पत्र देना है। यह अर्ज़ी पदोंमें दी गई है। गोस्वामीजी की समझमें कलियुगके कारण जो समाजकी क्षति हुई तथा धर्मको आघात पहुँचा उसका उन्होंने विस्तारसे विवेचन किया है।

इस विवेचनमें भक्ति-विषयक प्रचारकी अधिकता है। इसके सिवा शैव-वैष्णव मेलकी भावना पर भी जोर दिया है। कलियुगके अत्याचारोंमें सामाजिक वर्ण-व्यवस्था पर उस समय के बुरे प्रभावके बारेमें मुख्य रूपसे आलोचना की गई है। साथ ही मुसलमानी शासन पर भी कुछ छींटे फेंके गये हैं। इसे वे कलियुगका एक प्रधान दोष मानते थे। बीचमें उन्होंने समाजकी आर्थिक अव्यवस्था और दीनताकी वृद्धिके लिए भी कलियुगको कोसा है।

इस का एक मुख्य कारण गोस्वामीजी की दार्शनिक विचारधारा भी है, जिस पर भिन्न भिन्न प्रकारसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है। गोस्वामीजी के इन विचारोंमें काफ़ी जटिलता आ गई है, जिसके सुलझानेका प्रयत्न तो कम दिखलाई देता है, पर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अन्य मतोंकी इच्छानुसार आलोचना की गई है। इसके बारेमें एक विशेष बातका उल्लेख करना असंगत न होगा। वह यह कि वैदिक दार्शनिक विचारधारा द्वैत मत पर अवलम्बित है; पर गोस्वामीजी ने अपनेको पूर्ण वेदानुरागी मानते हुए और

इसका विस्तारसे उल्लेख करते हुए भी, इस द्वैत मतकी खूब भर्त्सना की है और इसे अवैदिक ठहराया है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी के समयमें वेदोंके सांग व सार्थ पढ़नेकी प्रणाली लुप्त हो चुकी थी। गोस्वामीजी ने केवल अवैदिकोंका पतन और अपने प्रचार-प्रसारमें रुकावट देखकर ही वैदिक प्रणालीका समर्थन और अनुगमन किया है। वह भी केवल मौखिक और अपने अज्ञान की दशा में। नहीं तो उनके विचारोंमें ६५% रीतियां, सिद्धान्त और मन्तव्य अवैदिक हैं। उनकी विचारधारा शुद्ध पौराणिक आधार पर स्थित है। उसमें एक प्रकारसे वैदिक सिद्धान्तोंका अभाव सा है। गोस्वामीजी ने अपनी पत्रिकामें यवनोंको पर्याप्त चर्चा की है। उनका कलियुग अंशतः यवन-साम्राज्य ही है। अकबर और जहांगीर, ये ही दो बादशाह उनके समकालीन थे।

अकबर की विचार-धारा हिन्दू-समाजके बहुत अनुकूल थी और वह स्वयं इस समाज में सम्मिलित होना चाहता था। इसके लिए अच्छा उद्योग भी हुआ था; पर सफलता नहीं मिली।

हिन्दू-समाजमें इतना अधिक विकार आ गया था कि वह ऐसे महान् परिवर्तनके लिए तैयार न था। उसमें सैकड़ों संप्रदायोंकी विचार-धारा प्रवाहित हो रही थी। उन सबका सामूहिक सम्बन्ध टूट चुका था। संकुचित विचारोंका एक भारी समूह हिन्दू-समाजको जर्जर बनाये हुए था। वर्ण-व्यवस्थाका रूप तो और भी विकृत बन गया था, और वही व्यवस्था वैदिकके नामसे अभिहित हो रही थी। जाति-पांति, छुआछूतकी खांई बहुत गहरी हो चुकी थी। हिन्दू जाति सहस्रों क्षुद्र उपजातियोंमें विभाजित हो गई थी। उनमें पारस्परिक सम्बन्ध केवल होली दशहरा आदि त्योहारोंपर ही कुछ रह गया था। मन्दिरों और धर्मस्थानोंमें हमने अछूतोंके लिए रोक लगा दी थी। वे देवताओंके दर्शनके लिए लालायित थे, पर उनके लिए कोई स्थान नहीं था। स्त्रियोंकी और भी बुरी दशा थी। इनको किसी शुभ या महत्त्वपूर्ण काममें शामिल नहीं किया जाता था। मुसलमानोंके प्रभावसे हिन्दुओंमें भी पर्दा-प्रथा घुस आई थी। स्त्रियोंमें देवपूजनका विधान और विद्याध्ययनका अभाव होनेसे इनकी मनोवृत्ति और भी संकुचित हो गई थी। यही नहीं, "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" का डिंडिम-घोष हो रहा था।

गोस्वामीजी का प्रादुर्भाव इन्हीं परिस्थितियोंमें हुआ था। उस समय स्त्री और शूद्र बहराइचके ग़ाजी मियां की जियारतके लिए खूब दौड़ते हुए मन्नत माननेके लिए जाते थे। इसके साथ ही समीपवर्ती क़ब्र, मियां मदार, औलिया, भूत प्रेत आदिकी पूजा भी बढ़ रही थी। दूसरी ओर अकबर बादशाह, राजा बीरबल, महाराजा मानसिंह,

अबुलफजल, फैजी, रहीम आदि राजनीतिज्ञ हिन्दू-मुस्लिम मेलके लिए प्रयत्नशील थे। गोस्वामी वल्लभाचार्य का पुष्टि-मार्ग और उसके अष्ट छापवाले कवियों का भी इसे समर्थन और सहयोग प्राप्त था। इन लोगोंने सामाजिक जीवनको नया रूप देनेका प्रयत्न किया। केवल राणा प्रताप ने इस विचार-धाराका विरोध किया, पर उनकी एक भी न चली। यहां तक कि मानसिंह ने अकबर से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया था।

अकबर बादशाह ने अपने व्यक्तिगत जीवनको भी बहुत कुछ परिष्कृत कर लिया था। वह कभी-कभी कंठी-माला पहनकर हिन्दू वेषमें रहा भी करता था। महारानी जोधाबाई के लिए आगरेके क़िलेमें एक विष्णुका मन्दिर भी बनवा दिया था। ऊपर कहे गये मंत्रियों की सलाहसे एक दीन इलाही मतकी भी स्थापना की गई थी, जिसके सम्पूर्ण सिद्धान्त हिन्दू-धर्मसे ही लिये गये थे।

गोस्वामी तुलसीदासजी को भी राणा प्रतापसे सहानुभूति थी। वे अकबर की हिन्दू-मुसलिम नीतिसे सहमत न थे। इसके द्वारा हिन्दू-समाजमें रक्त-दोष आनेका वे अनुमान कर रहे थे। साथ ही इस पारस्परिक भावनामें पुष्टि-मार्गकी शृंगार-प्रियता भी घर कर रही थी। मुसलमानोंमें यह मात्रा पहलेसे ही मौजूद थी, अत: दोनोंको एक ही धरातल पर लानेके लिए इस भावना पर, जो कि सामाजिक जीवनके लिए अत्यन्त घातक जान पड़ती थी, और भी जोर दिया जाने लगा था। गोस्वामीजी ने इस विचारधाराका घोर विरोध किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस मेलकी भावनाको गहरा धक्का लगा और यह कार्य वहीं का वहीं रह गया।

गोस्वामीजी ने अपनी सामाजिक वर्ण-व्यवस्था-प्रणालीको जन्मपरक मानकर इस महत् कार्यमें रोक लगा दी थी, पर इसमें पूर्ण शक्ति लगा देनेके कारण शूद्रों और स्त्रियों की ओर वे अधिक ध्यान न दे सके। केवल उन्हें तिरस्कृत और निन्दनीय कहकर ही वे मुसलमान होनेसे रोकना चाहते थे। पर इसमें उन्हें नाममात्रको भी सफलता नहीं मिली। आज उसीका परिणाम है कि भारतमें कई करोड़ मुसलमानोंकी संख्या हो गई है। यही नहीं, इसकी प्रतिक्रिया मुसलमानों पर भी हुई, जिससे हिन्दुओंको औरंगजेबी अत्याचार सहने पड़े।

पूजाका क्षेत्र

गोस्वामीजी ने अपने देवताओंमें बहुतोंको स्थान दे रखा था। ये स्मार्त मतके मानने वाले थे। इसमें गणेश, सूर्य, शिव, विष्णु, पार्वती मुख्य हैं। फिर हनुमान्, गंगा,

यमुना, काशी, चित्रकूट, राम-सीता, भरत, शत्रुघ्न इन सबकी स्तुति उन्होंने की है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे अपनी उपासनाको व्यापक रूप देना चाहते थे। पर इस संस्कृति में किसी अन्य देवताको स्थान नहीं दिया गया था। इनमेंसे मूलाधार रामकी भक्ति है और इसी भक्तिकी आराधनाके लिए अन्य देवताओंका सहारा लिया गया है। उन्हें रामका भक्त कहा गया है। चूंकि शिव उस समयके एक बहुत बड़े देवता थे और शैवों व वैष्णवोंमें पारस्परिक कलह भी थी, अतः उन्होंने शिवके द्वारा रामकी उपासना कराकर रामकी भक्तिको और भी दृढ़ बना दिया है।

भक्ति

प्रारम्भमें सूर्य और गणेशकी वन्दना की गई है। पर इन दोनोंसे राम-भक्तिका वरदान मांगा गया है। इससे गोस्वामीजी के हृदयमें रामके स्थानका अनुमान किया जा सकता है। फिर गणेशजी से वे प्रार्थना करते हैं—

"बसहिं राम सिय मानस मोरे।"

सूर्य भगवान् से कहते हैं—

"तुलसी राम भगति वर मांगै।"

फिर शिवजी से भी—

"देहु कामुरिपु रामचरन-रति।"

का वरदान मांगा है। इससे स्पष्ट है कि विनय-पत्रिका भक्ति-परक ग्रन्थ है।

कलि-वर्णन

गोस्वामीजी ने कलिके विषयमें विस्तारसे वर्णन किया है। इस कलियुगने गोस्वामीजी को बहुत हैरान कर रखा है। इसीलिए उन्होंने सब देवताओंसे इससे बचानेकी प्रार्थना की है। वह गंगाजी से कहते हैं—

"तो विन जग देवि गंग, कलियुग का करतो।"

अर्थात् हे गंगाजी! अगर तुम न होतीं, तो न मालूम यह कलियुग क्या दशा कर देता! आगे कहते हैं—

"दीनदयाल दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव-दुआर पुकारत आरत सबकी सब सुख हानि भई है॥" वि० १३९-१

फिर कहते हैं--

"कलि करनी बरनिये कहां लौं।
आस्रम बरन, धरम विरहित जग, लोक वेद मरजाद गई है॥"

तथा

"नीति प्रतीति, प्रीति परिमिति पति, हेतुवाद हठि हेरि हई है।" १३९-३

फिर कामादि की चर्चा करते हुए कहते हैं कि ये सब मुझे अपना बनाकर बादमें "परै अनैसी" विरोधी भाव दिखलावेंगे।

फिर गोस्वामीजी कहते हैं—

'मैं तो दियो छाती पवि, लयो कलिकाल छवि।"

अर्थात्—

मैंने तो छाती पर वज्र (पत्थर) रख लिया है और मैं कुछ भी नहीं कर सकता।

ब्राह्मणोंका पक्षपात

गोस्वामीजी स्वयं ब्राह्मण थे और ब्राह्मण जातिके साथ अधिक पक्षपात करते थे। वे 'भृगुलता' के विषयमें कहते हैं—

"प्रभु के वचन बेद बुध सम्मत महि मूरति महिदेव भई है।" १३९

अर्थात् भगवान् का वचन है कि मेरी मूर्ति ब्राह्मण हैं। मुझमें और ब्राह्मणमें कोई अन्तर नहीं है। इसके पश्चात् गोस्वामीजी अपनी निष्पक्षता प्रकट करनेके लिए कह बैठते हैं—

"विप्र-द्रोह जनु बांट परयो है।" १४२

अर्थात् इतनी महिमा बढ़ानेके बाद कहते हैं कि ब्राह्मणका द्रोह जैसे मेरे हिस्से पड़ा है। पर वास्तवमें वे ब्राह्मणोंके घोर प्रशंसक और हितैषी थे। इसीलिए तीर्थों, गंगादि नदियों और कथादि की महत्ता बतलाई है; क्योंकि इन्हींसे ब्राह्मणोंकी जीविका चलती है।

शैव व वैष्णव

गोस्वामीजीने शिवको रामका भक्त दिखाकर और राम द्वारा शिवको आदर दिलाकर दोनों समुदायोंका विरोध मिटानेका प्रयत्न किया है। यह भावना विनय-पत्रिकामें भी है। इसमें हरि-शंकरी प्रार्थना इसी बातकी द्योतक है। हरि और शंकर की साथ-साथ एक ही पद में प्रार्थना की गई है। यथा—

"दनुज बन दहन गुन गहन गोविन्द नन्दादि आनन्द दाताऽविनासी।
शम्भु शिव रुद्रशंकर भयंकर भीम घोर तेजायतन क्रोधरासी॥" वि० ४९

ऐसे ही विचार अनेक पदोंमें मिलते हैं। इसमें गोस्वामीजी को अवश्य सफलता ही मिली है।

वर्णाश्रम धर्म

गोस्वामीजी कहते हैं—

"धरम बरन आस्रमन के पैयत पोथि पुरान।
करतब बिनु बेष देखिये ज्यों सरीर बिनु प्रान॥" वि० १९२

अर्थात् वर्णाश्रम धर्मके बारेमें पोथी-पुराणोंमें खूब लिखा है; पर यदि कर्त्तव्य उसके साथ नहीं है तो सब व्यर्थ है। मुख्य तो उन पर आचरण करना है। फिर गोसाईंजी वर्णन करते हैं—

"थापे मुनि सुर साधु आस्रम बरन।" वि० २४८

श्रीराम ने ही इस वर्णाश्रमकी स्थापना की है। इस वर्ण-आश्रमकी व्यवस्थामें अन्तर आना गोस्वामीजीको असह्य है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्थाको खूब कस कर पकड़ रखा था। इसीसे वैष्णवोंकी जाति-पांति-रहित व्यवस्था तुलसीदासजी को मान्य नहीं थी, जो कि समाजमें समताके रूपको ला सकती थी।

यवनोंका विरोध

गोस्वामीजी ने कलिकी बहुत भर्त्सना की है। उन्होंने कलिके रूपमें मुख्यतया मुसल-मान बादशाहोंको ही लिया है और बहुत बुरा-भला कहा है। इसे भी आप गोस्वामीजी के शब्दोंमें सुनिए। वे कहते हैं--

"जमुना ज्यों-ज्यों लागीं बाढ़न।
त्यों-त्यों सुकृत सुभट कलि-भूपहिं बिदरि लगे बहु काढ़न॥" वि० २१

इससे स्पष्ट है कि वे कलि-रूपमें ही राजाओंको मानते थे। इसी से वे कहते हैं--

"काल कलि-जनित मल मलिन मन सर्व नर,
मोहनिसि निविड़ यवनान्धकारं॥" वि० ५२

अर्थात् सभी लोगोंके मन समयरूपी कलियुगसे उत्पन्न हुए मलसे मैले हो रहे हैं और मोहरूपी रात्रिमें यवनरूपी घना अन्धकार बढ़ा हुआ है। इससे विदित होता है कि गोस्वामीजी के समयमें यवनोंका खूब प्राबल्य था।

फिर गोस्वामीजी राजा (बादशाह) के कर्मचारियोंको भी अच्छा नहीं मानते। वे कहते हैं--

"राज समाज कुसाज कोटि कटु,
कलपित कलुष कुचाल नई है।
प्रीति प्रतीति नीति परिमिति पति,
हेतुवाद हठि हेरि हई है॥" वि०, १३९

इससे व्यक्त होता है कि बादशाहके समान, राजदरबारी भी बड़े दुष्ट थे। वे नई-नई चालें चलते थे और बहस करके सत्यको मिथ्या बना देते थे।

"सब खल भूप भये भूतल भरन।" वि० २४८

अर्थात् सब दुष्ट राजा पृथ्वी पर भाररूप हो गये हैं। इन उदाहरणोंसे प्रकट है कि बादशाह, मुसलमान लोग, राजकर्मचारी और सब राजा सभी दुष्ट प्रकृति के थे, यद्यपि उनके समयमें राजशासन उत्तम था और शान्ति भी थी। अकबरी दरबारमें हिन्दीके

कवियोंका बड़ा आदर था। फिर भी गोस्वामीजी उनसे असन्तुष्ट थे। इसका मुख्य कारण उनकी वर्ण-व्यवस्था और हिन्दू-मुसलिम-मेलकी विरोधी भावना थी। वे सार्वजनिक जीवनको पुरानी शैली पर ही चलाना चाहते थे; परन्तु सुधारकगण उसको नवीन रूप देकर हिन्दू-मुसलिम मेल और संगठन पर जोर देकर देशमें नवीन जागृति भर देना चाहते थे। पर गोस्वामीजी की विचारधारा इसके विपरीत मार्गकी ओर जा रही थी। जनता में अज्ञान अधिक था। अन्धविश्वास भी अधिक था। इसीलिए बीरबल आदिको सफलता न मिली और हिन्दू-मुसलिम एकताका प्रयास समाप्त हो गया।

दार्शनिक विचार

गोस्वामीजी का निजका मत अद्वैत था। इसीलिए इसकी चर्चा उन्होंने बहुत बार की है, यद्यपि वे बहुधा अन्य मतोंकी भी चर्चा करते रहे हैं। वे कहते हैं--

"प्रबल भव-जनित त्रै व्याधि,
भेषज भगति भक्त भैषज्य अद्वैत दरसी।
सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं,
किमपि मति मलिन कह दास तुलसी॥" वि०, ५७-९

इससे स्पष्ट है कि वे अद्वैत मतके अनुयायी थे और सन्त-भगवन्तमें कुछ भी अन्तर नहीं मानते थे।

फिर गोस्वामीजी कहते हैं—

"हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भावै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी॥" वि० १२०

यह भ्रम मायावादका ही रूप है; उसीके कारण मिथ्यावाद सत्य सा प्रतीत होता है। इसी से वे फिर कहते हैं—

"बिन बांधे निज हठ सठ परबस परचो कीर की नाईं॥"

यह भी उसी मायावाद और अद्वैतके उदाहरण रूपमें दिया जाता है। अतः निश्चित है कि गोस्वामीजी अद्वैतके अनुयायी थे और उनका निजी विचार इसी मतका पोषक था।

इसी भावको वे फिर कहते हैं—

"हे हरि, यह भ्रम की अधिकाई।
जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखे॥
कहि न जाय मृगबारि सत्य, भ्रमते दुख होइ बिसेखे।
तुलसिदास सब भांति प्रपंच जग जदपि झूठ स्तुति गावै॥" वि०, १२१

इससे भी उक्त भावनाकी पुष्टि होती है।

फिर गीताके आधार पर कहते हैं—

"यह जिय जानि द्रवौ नहीं, मैं करम विहीना॥" वि०, १०६-३

इससे प्रतीत होता है कि वे कर्मकी प्रधानताको महत्त्वपूर्ण समझते थे और इसके बिना ईश्वरकी प्रसन्नता होना असम्भव मानते थे। इसकी इस प्रमाणसे भी पुष्टि होती है—

"वाक्य ग्यान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीपकी बातिन तम निवृत्त नहिं होई॥" वि०, १२३

अर्थात् केवल शब्दका ज्ञान महत्त्वपूर्ण नहीं है। जैसे रातमें केवल दीपकी वत्तीसे घरका अँधेरा दूर नहीं हो सकता, जब तक तेल और अग्निका सहयोग न हो।

फिर मनकी विस्तृत शक्ति पर विचार करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

"विटप मध्य पुत्रिका सूत मँह कंचुकि बिनहि बनाये।
मन मँह तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाये॥" वि०, १२४

अर्थात् वृक्षमें पुतली और सूतमें कंचुकी विद्यमान रहती है, उसी प्रकार मनमें भी अनेक देहोंका मौजूद होना समझना चाहिए। इसीसे हम उनकी ब्रह्मकी भावनाका अनुमान कर सकते हैं।

फिर विशिष्टाद्वैत मतकी ओर संकेत करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

"ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।" वि०, ११६

अर्थात् जैसे ज्ञान, भक्ति आदि सत्य हैं उसी प्रकार अन्य बातें भी सत्य हैं। झूठ कोई भावना नहीं है। इससे उनका मायावाद लुप्त हो जाता है और विशिष्टाद्वैतकी भावना सामने आती है। गोस्वामीजी ने भोग लगाना, प्राणोंका बलिदान देना और हठयोग

तीनोंको एक ही कोटिमें रखा है। यद्यपि योगाभ्यास ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन माना गया है और वैदिक अंग है, पर गोरखनाथ की विचारधारासे विरोध होनेके कारण उन्होंने इसे भी घसीट कर जीवके बलिदानकी कोटिमें रख दिया है। इससे गोस्वामीजी की विचित्र विचारधाराका पता लगता है। इसे उनके ही शब्दोंमें देखिये—

"सिद्ध सुर मनुज दनुजादि सेवत कठिन
द्रवहिं हठजोग, दिये जोग बलि प्रान की॥" वि०, २०९

गोस्वामीजी राजा रामको कितना महत्त्व देते हैं इसे भी देखिये—

"आलसी अभागे मोसे तैं कृपालु पाले-पोसे,
राजा मेरे राजा राम अवध सहर के।
सेये न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी,
हित कै न मानै विधि हरिउ न हर के॥ वि०, २५०

अर्थात् राम के मुक़ाबलेमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, गौरी सभीको गोस्वामीजीने तुच्छ समझा है। इससे गोस्वामीजी पर सूरदास की छाप जान पड़ती है, जिन्होंने कृष्ण को गोलोकवासी और सर्वोपरि ब्रह्मरूप माना है। गोस्वामीजी में भी ऐसी ही भावना काम कर रही थी।

गोस्वामीजी के विचारसे इस विषयमें छहो शास्त्रों के मत भिन्न-भिन्न हैं। और पुराण भी एकमत नहीं हैं। वेद भी उसे "नेति-नेति" कहते हैं। ऐसे राम के विषय में और कुछ न कहकर केवल राम-नाम लेना ही पर्य्राप्त है। इससे गोस्वामीजी की वेदान्तिक अद्वैत विचारधाराका अच्छा स्पष्टीकरण हो जाता है। इसी विषयकी स्पष्ट विचारधारा इससे भी सामने आती है। वे कहते हैं—

"आगम विधि जप जाग करत नर
सजत न काज खरौ सौ।
बहुमत मुनि बहु पंथ पुराननि
जहाँ तहाँ झगरौ सौ॥" वि०, १७३

इससे घबराकर वे राम-भजनकी महत्ता पर जोर देते हैं और उसे वे 'राजऽगरौ सौ' मान लेते हैं।

एक बात विचित्र है कि गोस्वामीजी ने सभी दार्शनिक सिद्धान्तोंका समर्थन किया है। पर वैदिक द्वैत मतको त्याज्य कहा है। यथा--

"द्वैतमूल भय सूल सोकफल
भव-तरु टरै न टारयौ॥" वि०, २०२

इससे स्पष्ट है कि वे द्वैत विचारधाराका खुलकर विरोध करते थे और उसे अपने दार्शनिक सिद्धान्तोंमें कहीं भी स्थान नहीं दिया।

गोस्वामीजी की प्रार्थनाको कलिके विरुद्ध जब किसीने नहीं सुना, तब वे सबसे रुष्ट होकर कहते हैं---

"साहिब उदास भये दास खास खीस होत,
मेरी कहा चली हौं बजाय जाय रह्यौ हौं।
लोक में न ठाउँ परलोक को भरोसौ कौन,
हौं तो बलि जाऊँ राम नाम ही तें सब लह्यो हैं॥"
वि०, २६०

वे यहां तक नाराज़ और झुंझलाये हुए थे कि परलोकका भरोसा भी नहीं रहा कि वहां क्या होगा। स्पष्ट रूपसे चुनौती देते हैं कि मेरी क्या चली है, मैं तो दुनियासे चला ही जा रहा हूं, पीछे कुछ भी हो।

जीवन-सम्बन्धी घटनाएँ

गोस्वामीजी के विषयमें हिन्दी-संसारमें घोर भ्रान्ति फैली हुई है। उनके जीवनके बारेमें अनेक किंवदंतियां यत्र-तत्र सुनी जाती हैं। उनमेंसे अधिकांश झूठी जान पड़ती हैं। सम्भवतः इसीलिए गोस्वामीजी ने अपने जीवनके अन्तिम कालमें जीवनकी बहुत-सी बातें उन ग्रन्थोंमें, जिन्हें वे वृद्धावस्थामें लिख रहे थे, प्रकट कर दी हैं। ऐसी बातें और विचार कवितावलीमें बड़ी मात्रामें मिलते हैं, पर विनय-पत्रिकामें भी इस विषयकी अच्छी सामग्री है। अतः उस पर यहां संक्षेपमें प्रकाश डालना असंगत न होगा।

गोस्वामीजी अपने बालपनके विषयमें लिखते हैं--

"खाई खींची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल बलि आजु लौं जग जागि जिया रे॥" वि०, ३३

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी अपने जीवन कालमें मंडोमें खोंची ले लेकर जीवन-निर्वाह करते थे और राम के आधार पर रहते थे। यही नहीं, जगमें चैतन्य होकर जीते रहे। अर्थात् राम-भक्तिका विस्तार किया और स्वयं भी भजन करते रहे।

गोस्वामी तुलसीदास का यह नाम गुरुका रखा हुआ है। इसके पहले वे 'रामबोला' नामसे पुकारे जाते थे। इसका उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है--

"राम को गुलाम नाम 'रामबोला' राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं॥" वि०, ७६

उस समयके दो नाम राम और शिवके भक्तिके अनुसार जान पड़ते हैं। प्रारम्भसे सम्भवतः रामकी भक्ति रही हो, क्योंकि बचपनमें उनका नाम इसी आधार पर रामबोला था। पर गोस्वामी होने पर शैव मठके आचार्य हो गये प्रतीत होते हैं।

अन्तिम कालमें चिड़चिड़े बन गये थे, इसीसे वे किसीके खिझाने पर कहते हैं—

"लोग कहैं पोच सो न सोच न सँकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।" वि०, ७६

इससे स्पष्ट है कि जिस समय वे विनय-पत्रिका लिख रहे थे, उन पर वृद्धावस्थाका काफ़ी असर था।

गोस्वामीजी ने कहीं अपनी जातिका उल्लेख नहीं किया। हां, ब्राह्मण-पक्षपाती होने से ब्राह्मण होना निश्चित-सा जान पड़ता है। शूद्रोंकी भर्त्सना भी इसी बातकी द्योतक है।

उन्हें लोग अब अपनी-अपनी ओर खींच रहे हैं। सनाढ्य लोग इन्हें सनाढ्य बनाने पर तुले हुए हैं। इटावे और सोरोंके सनाढ्य इसके लिए अत्यन्त प्रयत्नशील हैं। सरयूपारियोंका उद्योग भी ऐसा ही जान पड़ता है। कान्यकुब्ज भी उन्हें कान्यकुब्ज मानते हैं और भीतरी साक्षीसे यही सही सिद्ध होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं--

"कौन धौं सोमजाजी अजामिल, गजराज धौं कौन वाजपेयी।" वि०, १०६

फिर कहते हैं—

"गज धौं कौन दिछित्र जाके सुमिरत लै सुनाभ वाहन तजि धाये।" वि०, २४०

इन दोनों उदाहरणोंमें वाजपेयी और दीक्षित आस्पदोंकी चर्चा है ये दोनों आस्पद न तो सनाढ्योंमें होते ह न सरयूपारियोंमें ही। कान्यकुब्जोंमें ये दोनों आस्पद श्रेष्ठ माने जाते हैं। इसलिए यही ठीक जान पड़ता है कि वे कान्यकुब्ज जातिसे सम्बन्धित थे। इसीलिए उनके मुँहसे वंश-परम्परासे प्रचलित धारणा निकल पड़ी थी। उनकी रचनामें कहीं पर ऐसा भाव व्यक्त नहीं होता, जिससे वे सनाढ्य या सरयूपारी माने जा सकें। ऐसी दशामें पक्षपात त्याग कर हमें अन्वेषणकी प्रवृत्ति स्वीकार करनी चाहिए।

गोस्वामीजी ने अपनी जीवन-सम्बन्धी बातोंकी चर्चा करते हुए कहा है—

"दियौ सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारिको,
यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली॥"

वि०, १३५

इससे स्पष्ट है कि वे उच्च ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए थे। सम्भव है, आस्पदमें भी वे शुक्ल हों। शरीर सुन्दर हेतुसे जान पड़ता है कि बालपनेसे ही उनके भोजन-छादनकी व्यवस्था अच्छी हो गई थी। तभी उनका शरीर सुन्दर और सुडौल बन गया था। 'जो पाय पंडित परम पद' से भी उनका ब्राह्मण होना निश्चित है, क्योंकि उस समय वर्ण-व्यवस्था जन्मपरक चल रही थी। फिर वे कहते हैं कि मेरी दिन-दिन दुर्दशा हो रही है। यथा—

"दिन दुरदिन दिन दुरदसा दिन दुख दिन दूषन।" वि०, १४९

इससे स्पष्ट है कि बुढ़ापेमें उनका दुर्भाग्य और दुर्दशा बढ़ गई थी और उससे दुःख और दोषोंकी वृद्धि हो गई थी।

फिर वे राम-नामकी प्रधानता मानते हुए मृत्युको भी याद कर लेते हैं। यथा—

"तुलसी जग जनियत नामतें सोच न कूच मुकामको।"

अर्थात् राम-नामकी याद होनेसे जन्म-मृत्यु व मोक्षकी चिन्ता नहीं है।

गोस्वामीजी ने अपनी बांहके दर्दकी और उसके कारण बाहुके झूठे पड़ जानेकी भी चर्चा की है। वे कहते हैं—

"त्रिभुवन तुहीं गति सब अंगहीन की।" वि० १७६

इससे स्पष्ट है कि इसकी रचनाके समय गोस्वामीजी की बांह पीड़ासे बेकार हो चुकी थी। इसीसे वे अपनेको अंगहीन मान लेते हैं। छन्द २७१ में "टूटियौं बांह गरै परै" से भी सम्भवतः इसी ओर संकेत है। फिर गोस्वामीजी के सुन्दर शरीरका एक और पदमें उल्लेख है। यथा—

"ताँवे सौ पीठि मनहुँ तन पायौ।" वि०, २००

गोस्वामीजी की यह विनय-पत्रिका बुढ़ापेकी रचना है इसका उन्होंने कई स्थलों पर कथन किया है। यथा--

"दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन।" वि०, २१८

इससे स्पष्ट है कि इस रचना कालमें वे मरनेके समीप पहुँच गये थे।
गोस्वामीजी अपने जीवनकी कुछ अन्य बातोंकी भी चर्चा करते हैं—

"जननी जनक तज्यो जनम करम बिनु, बिधिहु ठयौ अबडेरे।
फिरयौ ललात बिनु नाम उदर लगि दुखहु दुखित मोंहि हेरे।।
नाम प्रसाद लहियत रसाल फल अब हौं कुकुर वहेरे।" वि०, २२७

अर्थात् माता-पिताने जन्मसे ही तज दिया। भाग्य-रहित होनेके कारण ब्रह्मा ने भी दुर्दशा कर दी। राम की भक्तिके बिना जगह-जगह ललाता फिरा। उस समय में ऐसा दुखी था कि मुझे देखकर दुःखको भी दुःख होता था। नामके प्रसादसे मैंने आमका फल पा लिया। अर्थात् सौभाग्यशाली हुआ। पर अब मैं बबूल और वहेड़े सा कष्टमय हो रहा हूं। फिर कहते हैं--

"जनम गयौ वादिहिं वर बीति।
खेलत खात लड़कपन गौ चलि जोवन जुवतिन लियो जीति।।
रोग वियोग सोगस्रम संकुल वड़ि वय वृथहि अतीति।"

वि०, २३४

इससे स्पष्ट है कि उन पर रोग, वियोग, शोक और परिश्रम सभीका प्रभाव पड़ा था और अपनी वड़ी अवस्थाको भी वह व्यर्थ समझने लगे थे।

अन्तमें कहते हैं—"मैं निज दोष कछू नहिं गोयौ," अर्थात् मैंने सब बातें खोल कर कह दीं। कुछ भी नहीं छिपाया।

गोस्वामीजी शतरंजका खेल भी जानते थे। मालूम होता है कि वे इसे खेलते भी रहे हैं। इसीसे कहते हैं—

"सतरँज को सो राज, काठकौ सबै समाज,
महाराज बाजी रची प्रथम न हाति भाव॥" वि०, २४६

बाजी रची और प्रथम न हाति भाव इस बातके द्योतक हैं कि वे इस खेलसे अच्छी तरहसे परिचित थे।

गोस्वामीजी फिर रामको दोष देते हुए कहते हैं—

"बाप! आपने करत मेरी घनी घटि गई।
लालची लबारि की सुधारिये बारक बलि,
रोग बस तनु कुमनोरथ मलिन मनु,
पर अपवाद मिथ्यावाद बानी हई॥"

वि०, २५२

इससे स्पष्ट है कि बुढ़ापेमें गोस्वामीजी के विचारसे उनकी मर्यादा बहुत गिर गई थी और शरीर रोगी रहता था। इसीलिए वे "लुनियत बई" मानते हैं, अर्थात् जैसा किया वैसा ही फल पाया, समझते थे। गोस्वामीजी की भावना इस पदमें और भी स्पष्ट हो गई है —

"ज्यों ज्यों निकट भयो चाहौं कृपालु त्यों-त्यों हारि परचो हौं,
हौं सुबरन कुबरन कियौ नृपतें भिखारि करि सुमति तें कुमति करचो हौं।
अगनित गिरि कानन फिरचौ बिनु अगिनि जरचो हौं।
चित्रकूट गयौ हौं लखि कलि को कुचालि सब अब अपडरनि डरचौ हौं॥"

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी का शरीर विकृत व कुरंग हो गया था। राजासे रंक बन गये थे। इसके कारण वे वनोंमें भ्रमण करते फिरे। सम्भव है, अपने अनुकूल महात्मा मिलने पर सिद्धिके लिए प्रयत्न हो। अन्तमें काशीसे घबराकर कलिके मारे चित्रकूट चले गये थे। इससे उनकी स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

गोस्वामीजी को अन्तमें उनके साथियोंने भी छोड़ दिया था। इसीसे वे कहते हैं—

"स्वारथ के साथिनु तज्यौ तिजरा कौ सौ टोटका, औचट उलटि न हेरौ ॥
विं०, २७२

और तब दुखित होकर वे कहबैठते हैं—

"कीजै न ढील अब जीवन-अवधि अति नेरे।" विं०, २७३

इससे प्रकट होता है कि देशकी विडम्बनासे वे बहुत व्यथित थे और अन्तिम काल व बुढ़ापा दुःखमय बिताया था। रोगोंने उन्हें घेर रखा था। इसीसे वे सबकी प्रार्थना करते फिरते थे। परन्तु सर्वत्र ही उन्हें निराश होना पड़ा। टोटका आदि भी किये, पर सब व्यर्थ हुए। गोस्वामीजी ने गंगा-किनारे भ्रमण भी किया था। इसीसे वे उसकी ओर इच्छा करते थे। रामकी भक्तिसे युवावस्थामें सफल होनेके कारण वे कहते हैं—

"तुलसी तोसौं रामसौं कछु नई न जानि-पहिचान॥" विं०, १९३

अर्थात् पहिलेसे भी परिचय है। सम्भव है, पूर्वजन्म तथा जन्म-जन्मान्तरकी भावनाएँ भी इसमें निहित हों। यों ऊपरकी घटनाओंसे जीवन-सम्बन्धी बहुत-सी बातोंका पता चलता है। साथ ही उनकी मानसिक भावनाओंके उतार-चढ़ावका भी अच्छा दिग्दर्शन हो जाता है।

२३

दोहावली

दोहावली गोस्वामीजी के फुटकर दोहोंका संग्रह है। ये दोहे भिन्न-भिन्न विषयोंके हैं। कविसे जो प्रश्न किये जाते थे और शंकाएं उत्पन्न होती थीं उनके उत्तर भी इन दोहोंमें मिल जाते हैं। एक शंका यह है कि राम राजा हैं या ईश्वर? इसका उत्तर सुनिये—

"जौ जगदीस तौ अति भलौ, जौ महीप तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि, राम-चरन-अनुराग॥" ९१

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी दृढ़ रूपसे रामचन्द्र के चरणोंमें अनुरक्त हैं, फिर राम चाहे ईश्वर हों चाहे राजा। ईश्वर होने पर अपनी भावनाको सत्य मान कर उनका प्रेम विश्वास और भी बढ़ जाता है, और राजा यदि हों तो उनका भाग्य। रामचरण-अनुराग तो प्रत्येक दशामें उन्हें अभीष्ट है। इससे उनका यह स्वभाव स्पष्ट हो जाता है कि जिसे वे एक बार ठीक तरहसे स्वीकार कर लेते हैं उसे सहसा छोड़ना नहीं चाहते, चाहे ग़लत ही क्यों न हो।

गोस्वामीजी ने राम और शिवकी एकता पर प्रारम्भसे ही जोर दिया है। उनकी यह भावना जीवन-संगिनी-सी रही है। इसीसे वे रामचन्द्र से कहलाते हैं—

"संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भर घोर नरक महँ वास॥" १०१

यही दोहा रामचरितमानसमें भी आया है। इससे स्पष्ट है कि वे शैवों और वैष्णवों

में मेल करानेके प्रवल पक्षपाती थे। सूर और दूसरे भक्त कवियोंने भी इस भावनाको माना है।

गोस्वामीजी हनुमान्‌को शंकरका अवतार मानते थे। देखिये—

"जेहि शरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्र देह तजि नेहवस, संकर भे हनुमान॥" १४२

हनुमान् रामके प्रेमपात्र सेवक थे, अतः शंकर का अवतार उन्हें कहकर उनका लक्ष्य रामके प्रेमको प्राप्त करना एवं सेवा करना ही कहा गया है।

गोस्वामीजी को बुढ़ापेमें लगातार रोगने घेर लिया था, इसकी चर्चा उन्होंने बहुत वार की है—

"रोग निकट तनु जरठपनु, तुलसी संग कुलोग।
राम कृपा लै पालिये दीन पालिबे जोग।" १७८

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी के शरीरमें रोगोंने घर कर लिया था और वे बहुत वर्षों तक इन रोगोंसे पीड़ित रहे। फिर अन्त तक इनसे छुटकारा नहीं मिला। "संग कुलोग" से विदित होता है कि वे चिड़चिड़े भी वहुत हो गये थे। अपनी प्रार्थनाका उन्हें पूरा भरोसा था, पर उनके रोग पर इसका नाममात्र भी असर नहीं हुआ। अन्तमें मृत्यु भी इसी दशामें हुई—

"तुलसी तन सर, सुख जलज-भुज, रुज गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिये, कपि केसरीकिसोर॥" २३४

"भुज-तरु-कोटर, रोग अहि, वरवस कियो प्रवेस।
विहँगराज-वाहन तुरत काढ़िय, मिटै कलेस॥" २३५

इससे स्पष्ट है कि वे अनेक देवी-देवताओंकी प्रार्थना करते रहे, पर किसीने नहीं सुनी। शंकर, राम, विष्णु, हनुमान् इनसे तो वहुत-सी प्रार्थना की हैं, किन्तु औरोंको भी निहोरते रहे, पर रोगमुक्त नहीं हुए।

गोस्वामीजी निर्गुण और सगुण, दोनों की ही उपासना ठीक मानते थे, पर इन दोनों से बढ़कर राम-नामके जपको माना है—

"हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट-संपुट लसत तुलसी ललित ललाम।।" ७

इस भावनाको वे स्वर्णकी डिबियामें सुरक्षित मानते हैं।
इस भावको और भी देखिये—

"सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन तें दूरि।
तुलसी सुमिरहिं रामकों नाम सजीवन-मूरि।।" ८

इससे विदित होता है कि वे सगुन उपासनाको ठीक नहीं समझते थे और निर्गुण उपासना तो मनमें भी नहीं आ सकती। इसीलिए वे राम-नाम भजने पर जोर देते हैं।

तुलसीदासजी ने गंगाकी महिमाका अच्छा वर्णन किया है, पर उसके जलसे केवल शरीर की शुद्धि माननेवालोंको खूब कोसा है। यथा—

"ईस सीस बिलसत बिमल, तुलसी तरल तरंग।
स्वान सरावगि के कहे लघुता लहै न गंग।।" ३८३

निर्मल लहरोंवाली गंगा शिवजी के सिर पर सुशोभित हैं। यदि गंगाको श्वान तुल्य सरावगी (जैनी) अच्छा नहीं कहते तो कुछ गंगाकी महिमा नहीं घटती। इसमें कविने जैनियोंको कुत्ता तक कह डाला है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी अपने विचारोंके विरुद्ध कोई बात नहीं सुनना चाहते थे, जिसके लिए वे गाली तक दे बैठते थे।

गोस्वामीजी भेड़ियाधसानको बुरा समझते थे, क्योंकि यह अन्धविश्वास है। इसीसे वे कहते हैं—

'तुलसी भेंड़ी की धसनि, जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान।।" ४६५

तथा

"लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब पाय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय।।" ४९६

इससे स्पष्ट है कि जनताके अन्धविश्वासको गोस्वामीजी बहुत बुरा समझते थे।
गोस्वामीजी कलियुगको बहुत बुरा समझते थे। वे कहते हैं—

"सत्य वचन मानस बिमल, कपटरहित करतूति।
तुलसी रघुवर-सेवर्काहि सकै न कलिजुग धूति॥" ८७

रामके भक्त सज्जनोंको कलियुग दुःख नहीं दे सकता--भरमा नहीं सकता। पर गोस्वामीजी को तो इस कलियुगने अन्त तक परेशान किया था। उन्होंने उसके कष्ट देनेकी अपने प्रत्येक ग्रन्थमें चर्चा की है। विनय-पत्रिका तो पूरी की पूरी ही कलियुग से परेशान होकर भगवान् राम को अर्जी देनेके रूपमें लिखी गई है।

गोस्वामीजी ने सदैव वेदकी प्रधानता स्वीकार की है। पर उसका ज्ञान उन्हें नहीं था। इसीसे उन्होंने अपनी रचनाओंमें पांच प्रतिशत भी वैदिक भावना नहीं दी। वे कहते हैं--

"बुध किसान, सर वेद, निज मते खेत सब सींच।
तुलसी कृषि लखि जानिवो उत्तम, मध्यम, नीच॥" ४६५

अर्थात् पंडितरूपी किसान तालावरूपी वेदसे अपने-अपने मतके अनुसार अपनी खेती सींचते हैं--अपने-अपने सिद्धान्तका प्रचार उसीके आधार पर करते हैं। वास्तवमें वेदप्रतिपादित मत उनकी रचनामें लिया ही नहीं गया। अन्य शास्त्रों व गीताके सहारे अपनी इच्छाके अनुसार अर्थ करके वे तथा और सब विद्वान् अपने-अपने पक्षका समर्थन करते रहे हैं।

अब देखना यह है कि गोस्वामीजी ने वेदोंके गीत क्यों गाये हैं?

"अतुलित महिमा वेद की, तुलसी कियो विचार।
जो निन्दत निन्दित भयौ, विदित बुद्ध-अवतार॥" ४६४

यथार्थमें बात भी यही है कि वेदकी महिमा अतुलित है, उसकी जो कोई निन्दा करता है वह स्वयं निन्दत हो जाता है। जैसे बुद्ध भगवान् ने वेद की निन्दा की तो वे स्वयं निन्दा के पात्र हो गये।

वास्तवमें बुद्धके अनुयायियोंने ही वेदकी निन्दा की, पर वे उससे स्वयं बदनाम हो गये। इसीसे डर कर गोस्वामीजी ने वेदके खूब गीत गाये हैं। पर वे उससे परिचित नहीं थे।

गोस्वामीजी ने मूर्तिपूजन पर भी विचार किया है। वे कहते हैं--

"सठ सहि सांसति पति लहत, सुजन कलेस न काम।
गढ़ि-गुढ़ि पाहन पूजिये, गंडक सिला सुघाम।।" ३६२

लोग मूर्तिको गढ़कर पूजने योग्य बनाते हैं, पर शालग्राम शिलाका पूजन प्राकृतिक रूपमें होता है। यही सठ और सुजनमें अन्तर है। इसी प्रकार वे अनेक देवी-देवताओंका पूजन अच्छा नहीं समझते। एक की आराधना मुख्य है। यथा—

"पात-पात कौ सींचिबौ बरी-बरी कौ लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहके कहु को न।। ५४६

अर्थात् पत्ते-पत्तेको न सींचकर मूलको सींचना चाहिए। प्रत्येक बरीमें नमक न डाल कर पिट्ठीमें एक साथ ही नमक मिलाना ठीक है। इससे स्पष्ट है कि सब देवी-देवताओंकी अपेक्षा रामका पूजन श्रेयस्कर है। फिर क्यों न राम, कृष्ण, शिव, हनुमान्, देवी-देवताओं की अपेक्षा निराकार ब्रह्मकी उपासना स्वीकार होनी चाहिए। वही आदि मूल रूपमें सर्वत्र व्याप्त है। इन दोनों दोहोंकी भावनाओंसे यह भी पता लगता है कि गोस्वामीजी ब्रह्मकी निराकार उपासनाको ठीक समझते थे, पर सर्वसाधारण उसे नहीं समझ पायेगा, अतः उन्होंने राम की उपासना चलाई।

गोस्वामीजी ने कबीर आदि सन्तोंकी निन्दा की है। वे कहते हैं—

'साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहिं बेद पुरान।।" ५५४

इससे यह स्पष्ट है कि कबीर की साखी आदि द्वारा भक्ति-निरूपण करना उन्हें मान्य नहीं था। यहां इस विषयमें विचारणीय बात यह है कि कुछ सन्तोंने अज्ञानवश वेदकी निन्दा की है, पर गोस्वामीजी ने बौद्ध मतानुयायियोंका कथन मान्य समझकर ही निन्दा की है, नहीं तो इन सन्तोंमें से किसीको वेदका ज्ञान न था। कबीर, जायसी आदि तो अनभिज्ञ थे ही; मेरा तो अनुमान है कि गुरु गोरखनाथ भी वेदोंसे परिचित न थे। फिर गोस्वामीजी कहते हैं—

"स्रुति-सम्मत हरि-भगति-पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पन्थ अनेक।।" ५५५

इसमें भी उन मतावलम्बियोंकी निन्दा की है जो अनेक प्रकारके मत चलाते थे। कबीर ने राम की उपासनाका निरूपण किया है, इससे गोस्वामीजी ने उनकी स्पष्ट भर्त्सना नहीं की, यद्यपि तुलसी और कबीरके राममें बड़ा अन्तर था।

कलियुगके योगियोंकी निन्दा करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

"असुभ वेष भूषन धरैं भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥" ५५०

यह इशारा नाथ-सम्प्रदाय पर है। वे लोग मांसभक्षी होते थे, पर अब ये सब मुसलमान हो गये हैं।

स्त्रियों और शूद्रोंके प्रति गोस्वामीजी के विचार अच्छे न थे। यथा—

"जन्म-पत्रिका बरति कै देखेंहु मनहिं विचारि।
दारुन बैरी मीचु के बीच विराजति नारि॥" २६८
"बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुमते कछु घाटि?
जानइ ब्रह्म सो विप्र वर, आँखि दिखावहिं डाँटि॥" ५५३

इस प्रकार स्त्री और शूद्र दोनोंको गर्हणीय माना है। गोस्वामीजी ने चातकके प्रेम को सबसे बढ़कर माना है। इसीलिए इसके विषयमें अनेक उत्तम और बड़े ही सुन्दर द कहे हैं। एक यहां पर उद्धृत है—

"बध्यौ बधिक परि पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम-पट मरतहुँ लगी न खोंच॥" ३०२

यह दृढ़प्रतिज्ञ पक्षी गोस्वामीजी का बड़ा ही प्रियपात्र है। गोस्वामीजी का प्रकृति निरीक्षण और ज्योतिषका गम्भीर ज्ञान भी खूब बढ़ा-चढ़ा था। इस विषयमें अनेक अच्छे दोहे रचे हैं। इन दोहोंमें गोस्वामीजी की मौलिकताका भी पर्याप्त आभास मिल जाता है।

दोहावलीकी भाषा सतसई की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और संयत है। इसकी मँजी हुई भाषासे प्रकट है कि इसकी रचना उनकी आयुके उत्तरार्द्ध की है।

यहां पर उनके ज्योतिषविषयक ज्ञानका एक उदाहरण भी दिया जाता है। देखिये—

"ऊगुन पूगुन वि अज कृ म आ भ अ मु गुन साथ।
हरौ धरौ गाड़ौ दियौ धन फिर चढ़इ न हाथ।।" ४५७

अर्थात् "उ" से प्रारम्भ होनेवाले ३ नक्षत्र (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ व उत्तरा-भाद्रपद), पू से प्रारम्भ होनेवाले ३ नक्षत्र, (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़, पूर्वाभाद्रपद), वि (विशाखा), अज (रोहिणी), कृ (कृत्तिका), म (मघा), आ (आर्द्रा), भ (भरणी), अ (अश्लेषा) और मू (मूल) को भी इन्हींके साथ समझ लो। इन चौदह नक्षत्रों में चोरी गया, धरोहर रखा हुआ, गाड़कर रखा हुआ तथा उधार दिया हुआ धन फिर हाथ नहीं लगता।

इससे स्पष्ट है कि फलित ज्योतिषका ज्ञान गोस्वामीजी को बहुत अच्छा था। इसका समर्थन उनके अनेक ग्रन्थोंमें होता है। इससे स्पष्ट है कि गंगाराम ज्योतिषी-विषयक जो किंवदन्ती प्रसिद्ध है, उसमें कुछ सार अवश्य है। वे जीवन भर अपने इस फलित ज्योतिष का प्रचार भी बराबर करते रहे थे। सम्भव है, इससे उन्हें धनकी प्राप्ति भी होती रही हो।

गोस्वामीजी के बारेमें कुछ लोगोंकी क्या धारणा थी, इस विषयमें उनके ही शब्दोंमें सुनिये--

"करमठ कठमलिया कहैं ग्यानी ग्यानविहीन।
तुलसी त्रिपथ बिहाइगो राम दुआरे दीन।।" ९९

अर्थात् कर्मकांडी लोग मुझे काठकी माला धारण करनेवाला (कठमलिया) कहते हैं। ज्ञानी लोग मुझे अज्ञानी बताते हैं। और तीसरा मार्ग उपासना है, उसे करना मैं जानता ही नहीं। अतः मैं ज्ञान, कर्म, उपासना इन तीनोंको त्याग कर दीन भावसे राम के द्वार पर आ पड़ा हूं। अर्थात् मुझे केवल रामभक्तिका भरोसा है।

इससे स्पष्ट है कि वैदिक, कर्मकांडी व ज्ञानी लोगोंमें उनका सम्मान कम था। सम्भव है, भाषामें रचना करनेसे यह भावना और भी प्रबल हो गई हो। इसीसे उन्हें कुछ अपमान अवश्य सहना पड़ा होगा। काशीके बीच तो यह बात और भी बढ़ गई होगी, इसमें सन्देह नहीं।

एक बातकी ओर जनताका ध्यान आकर्षित करना उचित प्रतीत होता है कि आज

कलके सुधारोंकी दृष्टिसे गोस्वामीजी के विचार बहुत ही संकुचित और दक़ियानूसी जान पड़ते हैं; पर अपने समयमें उनमें अवश्य कुछ उदारताका पुट मिला हुआ था, जिनकी ओर उनकी प्रवृत्तियोंमें संकेत किया गया है।

२४

कवितावली

गोस्वामी तुलसीदासकी यह अन्तिम प्रमुख रचना है। गोस्वामीजी के ५ बड़े काव्य ग्रन्थ हैं। उन्हींमें एक कवितावली भी है। इन ग्रन्थोंमें इस महाकवि ने भिन्न-भिन्न भावनाएं देनेका प्रयत्न किया है, यद्यपि सबका विषय एक राम-चरित्र-चित्रण ही है। पर विषय-प्रतिपादनमें एक रचनासे दूसरीमें पर्याप्त अन्तर दिखलाई देता है। इससे प्रत्येक ग्रन्थके पढ़नेमें नवीनता का आभास मिलता है। नीरसता व पुनरुक्ति दोष नहीं आने पाया है। यही गोस्वामीजी की सबसे बड़ी विशेषता है, जिसकी ओर समालोचक विद्वानोंका ध्यान नहीं जा सका है। दोहावली और तुलसी-सतसई भी गोस्वामीजी के बड़े ग्रन्थोंमें माने जाते हैं। पर ये रचनाएं फुटकर रूपमें लिखी गई हैं। अतः इन पर काव्य-ग्रन्थके रूपमें विवेचन नहीं किया जा सकता है। उक्त पांच ग्रन्थ ये हैं :—

रामचरित मानस, गीतावली रामायण, कुंडलिया रामायण, विनय-पत्रिका और कवितावली।

अब इनकी विशेषताओं पर विचार कीजिये। मानसमें गोस्वामीजी ने गार्हस्थ्य-जीवन का एक महत्त्व-पूर्ण आदर्श उपस्थित किया है। भाई-भाई, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, माता-पुत्र, पड़ोसी, मित्र, दास-दासी, नागरिक, ग्रामीण जन आदिके परस्पर कर्त्तव्य व व्यवहार का निरूपण बहुत उत्तम है। राजा-प्रजाके पारस्परिक सम्बन्ध व कर्तव्योंका जैसा अनूठा चित्रण और विवेचन मानसमें दिखलाई देता है, वैसा शायद ही और कहीं मिल सके। शिव और राम का साम्प्रदायिक विरोध जिस अच्छे ढंगसे तुलसीदास ने सुलझाया है, वह उन्हींका काम है। सामाजिक जीवनके लिए जन्मपरक वर्ण-व्यवस्था स्वीकार करना

और वैराग्य-दशामें समदर्शिता व सभ्यताके आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, श्वपच, यवन, दरद, खास सबके लिए राम-भक्तिका द्वार खोल देना गोस्वामीजी की मौलिकताका परिचायक है। इस प्रकार गोस्वामीजी ने दुअमली राज्य (मोनार्की) स्थापित किया था। गीतावलीमें सूरकी छाप स्पष्ट झलकती है। राम-सीताके मधुर भावका हृदय ग्राही और मनोहर चित्रण किया है। जन्मोत्सव, बाल-लीला, फाग, सावन के झूला, विरह, वटोही राम के प्रति ग्राम-वासियोंके प्रेम व सहानुभूतिका चित्रण बहुत आकर्षक रूपमें किया गया है। इस रचनामें धनुष-बाण भी शृंगारकी वस्तु बन गये हैं। पर यह अवश्य है कि माधुर्य तथा मौलिकतामें सूरदास इनसे श्रेष्ठ हैं।

कुंडलिया-रामायण चित्रकूटमें बैठकर लिखी गई प्रतीत होती है। इसीसे उसमें बुंदेली भाषाका पुट अधिक है। उसमें चित्रकूटके आस-पासका चित्रण भी अधिक किया गया है। सम्भव है, वह कलिसे त्रस्त हो काशीसे चित्रकूट चले गये हों। इनकी रचनामें इसका संकेत भी मिलता है।

विनय-पत्रिकामें गोस्वामीजी ने कलियुगसे त्रस्त हो एक विस्तृत प्रार्थना-पत्र सपारिषद राम के दरवारमें भेजा है। उसमें सब देवी-देवताओं, तीर्थों 'हनुमान्' लक्ष्मण तथा सीताजी आदिसे सिफ़ारिश की प्रार्थना की है। अन्तमें राम की सही भी करवा ली गई है। पर गोस्वामीजी का पिंड उस कलि ने नहीं छोड़ा और अन्तमें उनके प्राण लेकर ही वह शान्त हुआ। इसमें कलिके रूपमें वादशाह और उसके समाज व राज-शासकों को भी वुरा-भला कहा गया है।

कवितावलीमें गोस्वामीजी ने चार विशेषताएं रक्खी हैं—

(१) जन्मोत्सव व वाललीला। (२) सीता-राम के प्रेम व विरह-वर्णन।

(३) हनुमान्‌जी की वीरता और (४) अपना आत्म-चरित।

गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओंमें अपने विषयमें बहुत कम लिखा है। मानस, दोहावली और सतसईमें कुछ वातें संक्षेपमें मिलती हैं। पर कवितावलीमें उन्होंने अपने जीवनकी अनेक वातोंका स्पष्ट रूपसे चित्रण किया है, अतः यह पुस्तक जीवन-सम्बन्धी घटनाओंका विवरण देनेमें सबसे महत्त्वपूर्ण है।

कवितावलीमें राम की वाल लीलाका अच्छा विकास हुआ है। उनके वालपनके भिन्न-भिन्न चित्रोंका बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण किया गया है।

स्थानाभावके कारण केवल एक उदाहरण देकर ही हमें सन्तोष करना पड़ रहा है। गोस्वामीजी कहते हैं—

"कबहूं ससि मांगत आरि करैं, कबहूं प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूं करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहूं रिसिआइ कहैं हठिकै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी-मन-मन्दिरमें बिहरैं॥"

इससे हम गोस्वामीजी की चरित्र-चित्रण-शक्तिका सरलतया अनुमान कर सकते हैं।

अब राम आदि पर ग्रामवासियोंके प्रेम-वर्णनका भी एक नमूना देखिये। राम, लक्ष्मण और सीता पैदल ही ग्रामोंमें होते हुए चले जाते हैं। उन्हें देख ग्राम-वासी आपस में कहते हैं—

"बनिता बनी स्यामल गौर के बीच,
बिलोकहु री सखि मोहि सी ह्वै।
मग जोगु न, कोमल, क्यों चलि हैं,
सकुचाति मही पदपंकज छ्वै॥
'तुलसी' सुनि ग्रामबधू बियकी;
पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भांति मनोहर मोहन रूप,
अनूप हैं भूपके बालक द्वै॥"

कवितावली, अयोध्याकांड, १८

इस प्रकारके मनोहर और हृदय-मोहक चित्रण तुलसीकी रचनामें बहुतायतसे भरे पड़े हैं, और माधुर्य की दृष्टिसे वे सूरदाससे टक्कर लेते हैं।

गोस्वामीजी का हास्य-चित्रण कहीं-कहीं बहुत आकर्षक और विनोद-पूर्ण बन पड़ा है। उसकी भी बानगी देखिये। वे कहते हैं—

"विन्ध्यके बासी, उदासी, तपी व्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्दमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायकजू, करुना करि कानन कों पगु धारे॥

कवितावली, अयोध्या कांड, २८

प्रेम-चित्रणमें गोस्वामीजी ने परिष्कृत भावनाका अच्छा परिचय दिया है। कहीं पर भी अश्लीलता नहीं आने दी है। राम-सीता के पारस्परिक प्रेमका उदाहरण—

"दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम कौ रूप निहारति जानकी कंकन के नगकी परछाहीं।
जाते सबै सुधि भूलि गईं, कर टेकि रहीं पल टारत नाहीं।"

कवितावली, बालकांड, १६

विवाहके अवसर पर सीताजी के कंकणके नगमें राम का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। सीताजी उसे टकटकी लगाकर देख रही हैं। प्रतिबिम्ब नष्ट न हो जाय, इसलिए वे कंकणके उक्त नगको जरा भी हिलने नहीं देतीं। केवल यही नहीं, उस प्रतिबिम्बके निरीक्षणमें इतनी निमग्न हो रही हैं कि शरीरकी भी सुध भूल गई हैं और उसे एक पलके लिए भी अलग नहीं करतीं। परिष्कृत प्रेमकी कैसी मनोहारिणी स्वाभाविक व्यंजना है। कवि ने इसके चित्रणमें अपूर्व सफलता पाई है।

गोस्वामीजी ने कलियुगकी घोर निन्दा की है। इसके भयसे वे इतने त्रस्त और भीत रहे थे कि उनकी आधी रचनाओंमें केवल कलिकी शिकायत ही भरी पड़ी है। गोस्वामीजी ने भूत-बाधा, खोरि, अकाल, अनाचार, मुसलमानी शासन, सभीको कलिके सिर मढ़ा है। जीवनके अन्त तक वे कलिके अत्याचारसे दुखी और पीड़ित रहे और अन्तमें मृत्यु भी उसी के कारण हुई।

उनकी दाहनी बांहमें पीड़ा हुई थी, जो लगभग २० वर्ष तक होती रही। इसीसे उनकी बांह झूठी पड़ गई और इसके प्रभावसे लूले भी हो गये। इस रोगका कारण भी वे कलिको समझते थे। साथ ही महादेवके गणोंमें से भी किसीको इस कष्टके लिए अपराधी समझते थे।

वे कहते हैं—

"मारग मारि महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
संकर कोपसों पाप को दाम परिच्छित जाहि गो जारि कै हीयो।
कासीमें कंटक जेते भये ते गे पाइ अघाइ कै आपनो कीयो।
आजु कि कालि परों कि नरों जड़ जाहिगो चाटि दिवारी को दीयो॥"

कवितावली, उत्तरकांड, १७६

राजा परीक्षित ने ही कलियुगको पकड़ कर भी छोड़ दिया था। इससे गोस्वामीजी उनकी भर्त्सना 'परिच्छित जाहि गो ताहि कें दीयो" कहकर करते हैं। इस कलियुगने सब पन्थोंको बिगाड़ दिया, ब्राह्मणोंको नष्ट किया। अनेक प्रकारके कुपंथ चलाये और सबका धन हर लिया। इसने काशीमें भी अनेक प्रकारके उत्पात किये। "गे पाइ अघाइ कें आपनो कीयो," इस कथनका मंशा उस मुसलमान करोड़ी के अत्याचार-दमन का संकेत है जिसे अकवर बादशाहने सूरदासजी की शिकायत पर निकाल दिया था और उस मुसलमान करोड़ी के स्थान पर किसी हिन्दूकी नियुक्ति कर दी थी। गोस्वामीजी यवनराज्य और उसके कार्यकर्त्ताओंको भी कलियुगके रूपमें मानते थे। इसके और भी अनेक स्थलों पर प्रमाण मिलते हैं।

वे कहते हैं—

"बेद पुरान विहाय सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल नृपाल कृपाल न राजसमाजु बड़ोई छली है॥
बर्न-बिभाग न आश्रम-धर्म दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।
स्वारथ कौं परमारथ कौं कलि राम कौ नाम प्रतापु वली है॥

कवितावली, उत्तरकांड, ८५

गोस्वामीजी ने अपने विचारसे कलियुगरूपी तत्कालीन बादशाहको खूब फटकारा है। उसे वेद और पुराणके मार्गसे वहिष्कृत ठहराया है। पर यह नहीं सोचा कि उनके अपने निजी विचार भी कहीं-कहीं वेदविरुद्ध हैं और उन्हें ही वेदानुकूल ठहरानेमें वे सब से आगे रहते थे। इस बातके सैकड़ों प्रमाण मानस और उनकी दूसरी रचनाओंसे दिये जा सकते हैं। यथार्थ बात यह थी कि अकबर बादशाह का इलाही धर्म वैदिक धर्मकी छाया लेकर ही रचा गया था; पर गोस्वामीजी ने जन्म परक पौराणिक वर्ण-व्यवस्था मानकर उस इलाही मतका खंडन किया, जिससे हिन्दू-मुसलिम मेलकी भावना लुप्तप्राय हो गई। इसीका परिणाम प्रतिक्रियाके रूपमें घोर औरंगज़ेबी शासन था। बादशाही शासनको तिरस्कृत करते हुए फिर वे कहते हैं—

"संकर सहर सर नर नारि बारिचर, बिकल सकल महामारी मांजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात, भभरि भगात जल थल मीचुमई है॥
देव न दयाल, महिपाल न कृपाल चित, बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज! पाहि कपिराज राम दूत! रामहूकी बिगरी तुहीं सुधारि लई है।"

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी इस महामारीके लिए महादेव आदि देवता तथा तत्कालीन बादशाह, दोनोंको समान रूपसे अपराधी मानते हैं। जब इन देवताओंसे रक्षा के लिए प्रार्थना करने पर भी कुछ फल न निकला तो वे इनसे और भी असन्तुष्ट होते गये।

यहां तक कि हनुमान् और भगवान् राम से भी प्रार्थना करने पर जब बीमारी दूर न हुई, तो निराश हो मौन धारण कर लिया। प्रारम्भमें तो इनकी प्रार्थनाका सार्वजनिक रूप दिखलाई देता है, पर कुछ दिन बाद स्वयं उसी महामारीमें ग्रस्त हो जाने पर वह प्रार्थना व्यक्तिगत रूप धारण कर लेती है। तब उनकी प्रार्थनाका स्वरूप अधिक करुणार्द्र और सजीव बन जाता है। उस समय कभी वे राम के लिए पूतरा बांधते हैं, और कभी उन्हें हृदयहीन और उदारताहीन ठहराने लगते हैं। इस दशामें त्रस्त हो स्वयं कलियुग की ही प्रार्थना करने लगते हैं। पर परिणाम कुछ नहीं निकलता। अन्तमें व्यथित हो हनुमान्जी की जो प्रार्थना गोस्वामीजी ने की है, वह बड़ी ही मार्मिक और हृदयग्राही है। इसकी भाषा भी विषयके अनुसार खूब प्रभाव-शालिनी और ओजस्विनी हो गई है। इन कवित्तोंकी रचना बाहुकी पीड़ाके निरोधके लिए की गई थी, अतः इसका नाम ही बाहुक पड़ गया है।

गोस्वामीजी की रचनाओंमें ऊंच-नीचकी भावना सर्वत्र ओत-प्रोत है। जान पड़ता है, वे बड़े ही संकुचित विचारके थे। जाति-पांति, छुआ-छूत, ऊंच-नीच, ब्राह्मण-अब्राह्मण इत्यादिको लेकर उन्होंने इनकी विरोधात्मक खाईंको बहुत गहरा और विस्तृत बना दिया है। इसलिए उनके काव्यमें रसात्मक आनन्दके साथ-साथ उक्त विष-पान भी हो जाता है। इसे हम भारतवासियोंने अनजानमें साधारणतया और उत्तरी भारतने विशेष रूपसे ग्रहण कर आस्थाके साथ स्वीकार किया है। इसके संशोधन और सुधारके लिए हमें अनेक वर्षों तक कठोर तपस्या करनी पड़ेगी। गोस्वामीजी ने वाल्मीकि मुनिके विषयमें लिखा है—

"रामु विहाइ 'मरा' जपतें, बिगरी सुधरी कविकोकिलहूकी।
नामहि ते गज की, गनिका की, अजामिल की चलिगै चल चूकी।।
नाम प्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही, पति पांडु-बधू की।
ताको भलो अजहूं तुलसी जेहि प्रीति प्रतीति है आखर द्वू की।।"

कवितावली, उत्तरकांड, ८९

इस कथनसे तुलसीदास की भावना केवल यही है कि 'राम' नामकी महिमा बढ़ाई जाय। पर इस बातकी ओर ध्यान नहीं गया कि 'मरा' 'मरा' कहनेसे वाल्मीकि मुनि महान् कवि और विद्वान् कैसे हो गये? उसके लिए उन्हें कितना महान् परिश्रम करना पड़ा था? संस्कृत विद्याका अध्ययन और कवित्व शक्तिका विकास साधारण परिश्रमका फल नहीं माना जा सकता और न उसको केवल 'राम' नामका छू-मन्तर कर सकता है। उनकी इस भ्रान्तिसे समाजमें घोर अन्धविश्वास भर गया और आलसी जीवनकी तो उन्होंने स्थायी नींव ही डाल दी। यदि राम का आदर्श उपस्थित कर उनके पारिवारिक जीवन, राजा-प्रजाके सम्बन्ध और सामाजिक उत्कर्षकी ओर ध्यान दिलाया जाता तो कितना महत्त्वपूर्ण कार्य होता। परन्तु गोस्वामीजी की विचारधारा इस ओर उतनी अग्रसर न हो सकी, जितनी होनी चाहिए थी। वाल्मीकि मुनिके समयम राम नामको उतना महत्त्व नहीं मिल पाया था, जितना गोस्वामीजी के समयमें। उन्होंने उसे उन्नतिके शिखर पर पहुँचानेका प्रयत्न किया है। वाल्मीकि के समयमें 'राम' मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, अवतारी नहीं। वाल्मीकि मुनि ने स्वयं इसी रूपमें उनका चित्रण किया है। यह भी सत्य है कि मनुष्य अनुकरण-प्रिय और आदर्श पर चलनेवाला प्राणी है। वह ईश्वरके कार्योंकी नक़ल नहीं करना चाहता। उसे तो वह पूज्य ही मान सकता है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् व व्यापक है। अनुकरण तो मानव या पुरुषोत्तम का किया जाता है। इस विषयका एक उदाहरण और भी लीजिए। गोस्वामीजी कहते हैं—

"देवनदी कहँ जो जन जानि किये मनसा कुल कोटि उधारे।
देखि चले झगरें सुरनारि, सुरेस बनाइ बिमान सँवारे॥
पूजा को साजु बिरंचि रचैं, तुलसी जे महातम जाननिहारे।
ओक की नींव परी हरिलोक, बिलोकत गंग, तरंग तिहारे॥

कवितावली, उत्तरकांड, १४५

इस सवैयामें गंगाजीकी भी वैसी ही प्रशंसा की गई है। इसमें तो गंगाजीकी तरंगमात्र देखनेसे ही इन्द्रादि देवता विमान लेकर दौड़ पड़ते हैं और स्वर्गमें ठेलमठेल हो पड़ती है। इससे गंगाकी महत्ता अवश्य बढ़ती है। उसको लोग आदरकी दृष्टिसे देखने लगते हैं। पर इस विषयमें हमारा शास्त्रीय विधान हमें बतलाता है—

"अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।"

स्नानसे शरीरकी शुद्धि होती है। सत्यभाषणसे मन शुद्ध होता है। विद्याध्ययन और तप करनेसे आत्माकी शुद्धि होती है तथा ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है। जल द्वारा शारीरिक शुद्धि ही होती है, अतः गंगा-जलसे शरीर ही शुद्ध हो सकता है। गंगाके दर्शन मात्रसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति मानना असंगत ही है। हां, यह ठीक है कि गंगा-जल कृमिनाशक स्वास्थ्यवर्द्धक और शरीरको अधिक शुद्ध करनेवाला है। पर उसके द्वारा आत्माकी भी शुद्धि मानना ठीक नहीं है। सम्भव है कि उसके किनारे ऋषि-मुनियोंका निवास होनेसे उनके द्वारा ज्ञान-प्राप्ति तथा तदनुसार कर्म करनेसे कुछ ऊंचा स्थान प्राप्त हो जाय। गंगाजलसे स्वर्ग या मोक्ष मानना अन्धविश्वास ही कहा जायगा। इसलिए हमें यथार्थ वैज्ञानिक ज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

गोस्वामीजी की साहित्यिक गरिमाका लोहा सारा संसार माने हुए है। भाषा, भाव, छन्द, अलंकार, प्रबन्ध काव्य, फुटकर पद्य, सभी विषयोंमें उनका पूर्ण आधिपत्य दिखलाई देता है। यहां पर एक उदाहरण देकर ही हम सन्तोष करना चाहते हैं।

गोस्वामीजी कहते हैं—

"वारि तिहारो निहारि मुरारि भये परसे पद पाय लहौंगो।
ईस ह्वै सीस धरौं पै डरौं प्रभुकी समता बड़े दोष दहौंगो।।
वरु वारहि वार सरीर धरौं, रघुवीर कौ ह्वै तव तीर रहौंगो।
भागीरथी, विनवौं कर जोरि, वहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो।।"

कवितावली, उत्तरकांड, १४७

इसी भावका द्योतक एक दोहा अब्दुररहीम खानखाना का भी है।—

"अच्युतचरन तरंगिनी, सिव-सिर मालति-माल।
हरि न बनाओ सुरसरी! कीजौ इन्दवभाल।।"

(रहीम)

इन दोनों रचनाओंमें रहीम की रचना प्रथमकी जान पड़ती है। दोनों ही गंगाके परम भक्त हैं। रहीम गंगाजी से प्रार्थना करते हैं कि विष्णुके चरणोंसे आप निकली हैं और शिवजी के सिर पर मालती-मालाके समान शोभायमान हैं। हे गंगे! आप मुझे विष्णु मत बनाना, शिवजी बनाना, ताकि मेरे द्वारा आपका अपमान न हो। पर

तुलसीदासजी ने इसमें कुछ संशोधन कर दिया है और कहा है कि मुझ विष्णु बनाओगी तो पाद-स्पर्शसे आपका अपमान होगा। और शिवजीके बननेमें उनकी समकक्षताका दोष आता है। अतः मैं मोक्ष ही नहीं चाहता। मैं तो रामभक्त बनकर संसारमें बार-बार जन्म लेता रहूं—यही मेरी इच्छा है। ये दोनों पद्य बड़े सुन्दर हैं। पर रहीम की कल्पना अधिक प्रभावशालिनी है; क्योंकि उसमें मौलिकता है। शब्दविन्यासमें रहीम का दोहा अधिक उत्कृष्ट लगता है।

गोस्वामीजी में बुढ़ापेके कारण चिढ़ बढ़ गई थी, इसका उनकी रचनाओंमें पर्याप्त आभास मिलता है। देखिए—

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ।
काहूकी बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहूकी जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाकौं रुचै सो कहै कछु ओऊ।
मांगि कै खैबो, मसीत कौ सोइबो, लैबे कौं एक न दैबेकों दोऊ।"

कवितावली, उत्तरकांड, १०६

स्पष्ट है कि वे लोगोंके कुछ कहने पर कितने अधिक नाराज़ हो जाते थे। वे अपनी जाति-पांति बताना नहीं चाहते थे, पर कुछ दुष्ट लोग उन्हें इसके लिए ताना देते और चिढ़ाते थे। इससे वे बहुत त्रस्त रहते थे। एक बार तो वे चित्रकूट चले गये थे। इससे यह भी प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी के सम्बन्धमें कुछ अनभिज्ञता और भ्रान्ति अवश्य फैली हुई थी। गोस्वामीजी बहुधा अपनी जाति बताते हुए राम का ग़ुलाम होनेके नाते अपनेको उसी जातिका कहते थे।

गोस्वामीजी का प्रारम्भमें अच्छा प्रभाव बढ़ा था। पर आगे चलकर उनकी वह मान्यता नहीं रही और उनका कुछ अपमान भी होने लगा, जैसा कि ऊपरके पद्यमें वर्णित है। शिवजी से भी वे इसकी शिकायत करते हैं। देखिये—

"जात जरे सब लोक विलोकि तिलोचन सो विष लोकि लियो है।
पान कियो विषु भूषन भो करुनाबरुनालय साईं हियो है॥
मेरोइ फोरिबे जोगु कपारु किधौं कछु काहू लखाइ दियो है।
काहे न कान करौ बिनती, तुलसी कलि-काल बिहाल कियो है॥"

कवितावली, उत्तरकांड, १५७

इस सवैयामें अपनी शिवजी की सेवाओंका उल्लेख करते हुए अपनी ओर ध्यान न देनेसे अपने दुर्भाग्यको बहुत कोसा गया है। साथ ही कलियुगकी नृशंसता से अपनी और समाजकी दुर्दशाकी चर्चा की गई है। यह रचना गोस्वामीजी की वृद्धावस्थाकी है, जिस समय उन्हें रोगने बहुत त्रस्त कर दिया था और समाजमें भी पहले जैसी प्रतिष्ठा नहीं रही थी। हिन्दू-मुसलिम-मेल के लिए बाधक होनेसे राजदरबार और वहांके कर्मचारियोंमें भी इनका उतना आदर नहीं रहा था। न इन्हें किसी प्रकारकी सहायता ही मिलती थी। भारतके हिन्दू नरेश भी इनके विचारोंसे सहमत नहीं थे और न उनसे इन्हें किसी प्रकारका सहयोग ही मिला था। इसीलिए गोस्वामीजी ने बादशाह, राजा और राज-कर्मचारीगणकी घोर निन्दा की है। इसके प्रमाण कवितावली, विनयपत्रिका तथा अन्य कई ग्रन्थोंमें मिलते हैं। गोस्वामीजी की रचनाओं द्वारा देश, समाज और व्यक्ति के हित-अनहितका अनुपात क्या है, यह हम ग्रन्थावलीके चौथे भागमें दिखलावेंगे। वे शायद सूरदास की राज-प्रतिष्ठा देखकर स्पर्द्धासे कह बैठते हैं कि "नृपाल कृपाल न"। राज-कर्मचारीगणको भी शरारती कह डाला है।

गोस्वामीजी की प्रतिष्ठाका समय अब्दुलरहीम खानखानाके काशीके सूबेदार होने तक तो अवश्य रहा प्रतीत होता है। परन्तु गोस्वामीजी की दकियानूसी नीति और मुसलमानोंसे खिंचे रहनेकी भावनासे रहीम के हृदयमें भी उन्हें स्थान नहीं मिला।

रहीम के दोहे और उनके बरवै नायिकाभेदके अनुकरण पर गोस्वामीजी ने भी अनेक छन्दों और "बरवै रामायण" की रचना की। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों महा-कवियोंमें पारस्परिक सौहार्द अंशतः अवश्य था। जो रचनाएं उन्होंने इस समयमें की हैं, उनमें शृंगारिकताका पुट विशेष रहते हुए भी परिष्कृत साहित्यकी सीमाका उल्लंघन उन्होंने कहीं नहीं किया। पर इन रचनाओंमें सैकड़ों प्रकारकी अन्य संकुचित बातोंको मिलाकर उन्हें विकृत कर दिया है।

गुरु गोरखनाथ ग्यारहवीं शताब्दीमें एक अत्युच्च कोटिके योगी हो गये हैं। ये हिन्दू-मुसलिम-मेलके प्रबल पक्षपाती थे। रतन हाजी नामक एक मुसलमान फ़क़ीर इनका प्रधान शिष्य था। इन्होंने कायाकल्प द्वारा अपनी अवस्था तीन सौ वर्षसे ऊपर तक पहुँचा दी थी। इनकी दो रचनाएं पाई जाती हैं—गो-रक्ष-संहिता, और गोरखवाणी।

इनमें हिन्दू-समाजकी विकृत दशा और उसके सुधारका विस्तारसे विवेचन किया

गया है। छुआ-छूत, जाति-पांति व वर्ण-व्यवस्थाके अवैदिक रूपकी अच्छी आलोचना उनमें है। इन्हीं गोरखनाथ के विषयमें गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

"बरन-धरमु गयो, आस्रम निवासु तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो-सो है।
करमु उपासना कुबासना बिनास्यो ग्यानु,
बचन बिराग बेष जगतु हरो सो है॥
गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु,
निगम नियोग तें सो कलि ही छरो सो है।
काय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि,
रामनाम को भरोसो ताहि को भरोसो है॥"

कवितावली, उत्तरकांड, ८४

गोस्वामीजी ने इस कवित्तमें गोरखनाथ और नाथ-सम्प्रदायकी निन्दा की है, क्योंकि वे वर्णों और आश्रमोंका जो विकृत रूप प्रचलित था, उसीके समर्थक थे। गोरख की प्रणाली नितान्त वैदिक थी, क्योंकि योग शास्त्र वैदिक षट्शास्त्रमें से ही एक है। पर गोस्वामीजी को रामभक्ति का रूप उसके अन्तर्गत नहीं होता। अतः गोरखनाथ ने उसकी चर्चा नहीं की। ये लोग शैव थे। शिव की आराधना करते थे। वर्ण-व्यवस्थाको कर्म-परक मानने के कारण उनकी भावना तुलसीदासजी से मेल नहीं खाती थी। इसीलिए तुलसीदास ने गोरखनाथ की निन्दा की है। जनताका अन्धविश्वास गोस्वामीजी के साथ था। उनकी दो-एक बातोंको लेकर, जो वास्तवमें अच्छी थीं, समाज उनके पीछे दौड़ पड़ा था। यथार्थ में देखा जाय तो गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओंसे हानि ही अधिक हुई है। यद्यपि इनकी साहित्यिक बुद्धि ने भारतीय जीवन-साहित्यको अन्तरराष्ट्रीय रूप दे दिया है, पर अन्य उच्च कोटिके ग्रन्थोंकी ओर विश्वके विद्वानोंका ध्यान आकर्षित नहीं हो पाया। अंग्रेजों व फ्रांसीसी विद्वानोंने इस भावनाके विस्तारमें अधिक परिश्रम और सहायता की। गोस्वामीजीके द्वारा समाजमें अन्धविश्वासों और संकुचित मनोवृत्तियोंको बहुत बल मिला है, इसीसे अंग्रेजी व फ्रेंच साहित्यके विद्वानोंने इस ओर अधिक ध्यान दिया है। भूषण और सूर के ग्रन्थ, जो कि अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट और हितकर भावनाओंसे भरे हैं, उनकी ओर ये विद्वान् आकर्षित न हो सके। भारतमें शासनकी व्यवस्थाको सुगमता

से चलानेके लिए उक्त विदेशीय विद्वानोंने ऐसा ढंग अख्तियार कर लिया था कि हिन्दू-मुसलिम विरोध बढ़ता जाय और सामाजिक कटुताका खूब विस्तार हो।

गोस्वामीजी कहते हैं—

"करि जोग समीरन साधि समाधि कै धीर बड़ो बसहू मनु भो।
सब जाय सुभाय कहै तुलसी जो न जानकी-जीवन को जनु भो।।"
कवितावली, उत्तरकांड, ४२

गोस्वामीजी ने इस प्रकार रामभक्तिके सामने योगाभ्यास, प्राणायाम और संयमशीलता सभीको व्यर्थ और तुच्छ ठहराया है।

गोस्वामीजी ने संसारको व्यर्थ और झूठा बतलाया है। जानकी-जीवनकी भक्तिके सामने सभी प्रकारके ज्ञानको तुच्छ ठहराया है। इसे भी गोस्वामीजी के शब्दोंमें ही सुनिये—

"झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग सन्त कहंत जे अन्त लहा है।
ताकौं सहै सठ! संकट कोटिक काढ़त दन्त करन्त हहा है।।
जानपने को गुमान बढ़यौ, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी-जीवनु जान न जान्यौ तौ जान कहावत जान्यौ कहा है।।"
कवितावली, उत्तरकांड, ३६

इसमें गोस्वामीजी ने संसारको मिथ्या और व्यर्थ ठहराया है। शंकर की अद्वैत भावनाका यहां प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाई देता है। इसके लिए 'अहं ब्रह्माऽस्मि' के ज्ञान को भी व्यर्थ ठहराते हुए रामभक्ति को महत्त्वपूर्ण दिखलानेका प्रयत्न किया गया है।

गोरखनाथ के वैदिक योग और अद्वैतके दार्शनिक भावोंको स्वयं मानते हुए भी गोस्वामीजी उन्हें निन्दनीय और घृणास्पद कह डालते हैं। इससे प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी को वेद-लवेद, वेदान्त और अज्ञान किसीकी महत्ता और सत्ता स्वीकार नहीं। उन्हें केवल रामभक्ति को मुख्य रूप देना ही अभीष्ट था। निम्नलिखित पद्यमें वे अपनी इस भावनाको और भी स्पष्ट करते हैं—

"आगम, वेद, पुरान बखानत, मारग कोटिन जाहिं न जाने।
जे मुनि, ते पुनि आपहि आपु कौ ईस कहावत सिद्ध सयाने।।

धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग बिराग लै जीव पराने।
को करि सोचु मरै 'तुलसी', हम जानकीनाथ के हाथ बिकाने।।"

इसमें रामभक्ति के सामने चारों वेद, छहों शास्त्र और पुराणादि सबको व्यर्थ और तुच्छ ठहराया है। जिन वेदोंका सहारा लेकर तुलसीदास ने रामभक्ति को बढ़ावा दिया है, उसीको धकेल कर गिरा देनेका प्रयत्न करना स्तुत्य नहीं माना जा सकता।

गोस्वामीजी भक्तिके लिए प्रह्लाद को आदर्श मानते हैं। वही उनका आदर्श चरित्र था, जिसे वे महत्त्व देते थे। इसे भी गोस्वामीजी की वाणीमें ही सुनिए—

"आरतपाल कृपालु जो राम, जहीं सुमिरौ तेहिकों तहँ ठाढ़े।
नामु प्रताप महा महिमा अँकरे किये खोटेउ, छोटेउ बाढ़े।
सेवक एक तें एक अनेक भये तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रहलादहि कों, जिन पाहन तें परमेसुर काढ़े।।"

कवितावली, उत्तरकांड, १२७

गोस्वामीजी की भक्ति-भावना एक महत्त्वकी वस्तु है। पर इसमें उस वैज्ञानिकता का अभाव है जो समाजको ऊंचा उठाती और राष्ट्रके उत्थानमें सहायक बन सकती है। नृसिंह भगवान् प्रह्लाद की रक्षाके लिए खंभ फाड़कर निकल आये थे, यह कथा उस अतीत कालकी एक ऐसी भावनाको प्रदर्शित करती है, जिसमें ऐसी असम्भव बातोंको सत्य मान लिया जाता था। वैदिक युगमें ऐसे विश्वासका लेश मात्र भी आभास नहीं मिलता। वेदों में मुख्य रूपसे वैज्ञानिक विवेचन ही मिलता है। जैसे ३३ महाविद्याओंका महातत्त्वोंके रूप में प्रस्फुटन, विकास और आविष्कार। वेदोंमें इन दशावतारोंकी कथा नहीं मिलती और न इनका विश्लेषण ही मिलता है। अतः इन पौराणिक कथाओंको हमें आलंकारिक रूपमें ही ग्रहण करना चाहिए।

गोस्वामीजी ने कहा है—

"काढ़ि कृपान कृपा न कहूं पितु कालकराल विलोकि न भागै।
'राम कहां?' 'सब ठांउ हैं', 'खंभ में?' 'हां' 'सुनि हांक नृकेहरि जागे।।
बैरि विदारि भये बिकराल, कहे प्रहलादहि के अनुरागे,
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तब ते सब पाहन पूजन लागे।।"

कवितावली, उत्तर कांड १२८

लजाते फिरते थे। घरकी सम्पत्तिमें केवल खुरपी और खरिया (घास बांधनेकी जाली) ही उनके पास थी। सम्भवतः वे वर्षाके दिनोंमें घास छीलकर वेचा करते थे। उन्हीं तुलसीदास के राजाओंने पैर पूजे और वहुतसा सोना भेंट किया। जयपुरनरेश महाराज मानसिंह तथा जगतसिंह का तुलसीदासजी से मिलना एक प्रसिद्ध घटना है। उनके जीवन-चरित्रसे भी इसका पता लगता है। इस प्रकार सांसारिक ऐश्वर्य उनके हाथ लगा। जव मठाधीश हो गोस्वामी की पदवी उन्होंने ग्रहण की तो सुख-समृद्धिकी भी अच्छी वृद्धि हो गई थी। इसीसे कह वैठते हैं—"तुलसी गुसाईं भयौ, भोंड़े दिन भूलि गयौ, ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।" लौकिक और पारलौकिक, दोनों जीवनोंमें उत्थान समझकर दरिद्रताका मुँह काला कर दिया, अर्थात् खूव सम्पत्तिशाली हो गये। उस समय उसी धनसे रामभक्ति और मानस का प्रचार और प्रसार वे खूब करते रहे। ब्राह्मणोंकी प्रशंसा भी उन्होंने भरपेट की और जो अटूट धन मिला था, उसका उपयोग भी उन्हीं कामोंमें करते रहे। इससे सम्भवतः उनका सारा धन समाप्त हो गया था, पर उनकी ख्याति और मानसका प्रचार पर्याप्त मात्रामें हो गया था। गोस्वामीजी को जो धन मिला था, वह अकबर बादशाह के अनुयायियों, दरबारियों और कर्मचारियोंसे मिला था; पर उसका प्रयोग उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम मेलकी जड़ उखाड़ने और अकबर के विरोधमें ही किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन लोगोंने हाथ खींच लिया। थोड़े ही दिनोंमें वह अटूट धन-राशि समाप्त हो गई। तभी वे कह वैठते हैं—

"सोई है खेदु जो बेदु कहैं न घटै जनु जो रघुवीर बढ़ायौ।।"

कवितावली, उत्तर कांड, ६०

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी को यह पूर्ण विश्वास था कि राम-भक्ति और मानस के प्रचारके कारण उनको वैसा ही धन मिलता रहेगा। परन्तु उनकी वृद्धावस्था अत्यन्त कष्टमय व्यतीत हुई और अपने साथियों पर भी उनका विश्वास नहीं रहा। पहले वे "हंस कियौ बक तें" की भावना रखते और कहा करते थे—

"पातक पीन कुदारिद दीन मलीन धरे कथरी करवा हैं।
लोग कहैं विधि हून लिख्यौ सपनेहुँ नहीं अपने बरवा हैं।।
राम कौ किंकरु सो तुलसी, समुझें हि भलौ कहिबौ न रवा है।
ऐसो कौ ऐसो भयो कवहूं न भजे बिनु बानर के चरवा है।।"

कवितावली, उत्तर कांड, ५६

`विहू गनककों" के द्वारा ब्रह्मा व धर्मराज के सिहाने व चिन्ताकी बात भी
नहाना' ऐश्वर्यका द्योतक है। तथा 'सोच' परिताप व पापकी भावनाको
।
यह है—

ायौ कुल मंगल बधावनौ बजायौ सुनि,
भयौ परितापु पापु जननी जनक कौं।
रे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक कौं॥
सो सो साहेब समर्थ कौ सुसेवकु है,
सुनत सिहात सोचु बिधि हू गनक कौं।
ु राम, रावरो सयानो किधौं बावरो,
जो करत गिरी तें गरुवन तें तनक कौं॥"

कवितावली, उत्तर कांड, ७३

त्तिसे माता-पिताको दुःख भी हुआ और पाप भी लगा। अभुक्त मूलमें
ढ़ी हुई जान पड़ती है। इसके द्वारा पापकी अवतारणा नहीं मानी जाती।
अवश्य उत्पन्न हुए थे। पर इस कथनके द्वारा किसी प्रकारकी अनुचित
ती है। इसीलिए माता-पिताने उन्हें त्याग देनेमें अपना कल्याण समझा
ायौ" का आशय केवल यही माना जा सकता है कि कुछ मँगते उनके
ाए गोस्वामीजी अपना वंश-परिचय देनेमें बहुत हिचकिचाते हैं और
ि शाहका गोत्र ही गुलामका भी गोत्र होता है। एक बार वे "भलि
म समाज शरीर भलो लहि कै" भी कह चुके थे, जिसमें अंशतः
'पाप' की बातका उन्होंने इसमें उल्लेख नहीं किया था, जिसे
देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने यहां पर उसे व्यक्त कर
ाम कवि-प्रणाली और भक्ति-भावना मात्रका द्योतक है।
आपका नाम चतुर है या बावला? जो छोटोंको कड़ा
ाओंमें गोस्वामीजी की निजी विचारधाराका
यानो' से अकबर के ा कार्यों, सामाजिक

वर्षसे ऊपर हो चुकी थी, अतः रोग होनेकी सम्भावनामें सन्देहकी गुंजाइश नहीं है। सम्भव है, उनका बड़ा रोग बांहका दर्द भी प्रारम्भ हो गया हो, जिसने अन्त तक उनका पीछा नहीं छोड़ा।

मायाका प्रभाव भी गोस्वामीजी अपने ऊपर समझते थे। पारिवारिक ममता तो सम्भवतः रह नहीं गई थी। शिष्य-मंडली उनके साथ अवश्य थी, जिनमें वे अपने-पराये की भावना रखते थे, जैसी कि उन्होंने स्वयं कई जगह चर्चा की है। ज्ञानके कारण सांसारिक भयके दूर होनेकी भी वे आशा करते थे। साथ ही वे बुढ़ापेका अनुमान कर ज्ञान-रवि-उदयसे मोक्षके लिए उपदेश देते हैं।

गोस्वामीजी फिर अपने जीवनके विषयमें और भी स्पष्ट चर्चा करते हुए लिखते हैं—

"भलि भारत भूमि भले कुल जन्मु समाजु सरीर भलो लहिकैं।
करषा तजिकैं परुषा बरषा हिम मारुत घाम सदा सहिकैं॥"

कवितावली, उत्तर कांड, ३३

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी भारतभूमिवासी होनेके कारण अपनेको गौरवान्वित समझते थे। इनका जन्म भी ब्राह्मण कुलमें हुआ था। जिस समाजमें हुए थे, वह भी उत्कृष्ट था। शरीर भी सुडौल, सुन्दर और स्वस्थ था। वह कहते हैं, राग-द्वेषकी भावना त्याग कर कठोर वर्षा, हिम और घाम सहकर जो कोई भगवान् का भजन करे, वही चतुर है, नहीं तो सोनेके 'हल' में कामधेनु जोतकर हम विष-बीज बोते हैं। इसमें परोक्ष रूपसे अपनी प्रशंसा भी कुछ कर गये हैं।

गोस्वामीजी ने अपने जीवनके दोनों पहलुओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। वे कहते हैं—

"कृस गात ललात जो रोटिनकों घरवात घरैं खुरपा खरिया।
तिन सोने के मेरुसे ढेर लहे, मनु तौ न भरौ, घरु पै भरिया॥
तुलसी दुख दूनो दसा दुहूं देखि, कियौ मुख दारिद कौ करिया।
तजि आस भौ दास रघुप्पति कौं, दसरत्थ कौ दानी दया-दरिया॥"

कवितावली, उत्तर कांड, ४६

इससें स्पष्ट है कि गोस्वामीजी बचपनमें बहुत ही दुबले-पतले थे और टुकड़ोंके लिए

लजाते फिरते थे। घरकी सम्पत्तिमें केवल खुरपी और खरिया (घास बांधनेकी जाली) ही उनके पास थी। सम्भवत: वे वर्षाके दिनोंमें घास छीलकर बेचा करते थे। उन्हीं तुलसीदास के राजाओंने पैर पूजे और बहुतसा सोना भेंट किया। जयपुरनरेश महाराज मानसिंह तथा जगतसिंह का तुलसीदासजी से मिलना एक प्रसिद्ध घटना है। उनके जीवन-चरित्रसे भी इसका पता लगता है। इस प्रकार सांसारिक ऐश्वर्य उनके हाथ लगा। जब मठाधीश हो गोस्वामी की पदवी उन्होंने ग्रहण की तो सुख-समृद्धिकी भी अच्छी वृद्धि हो गई थी। इसीसे कह बैठते हैं—"तुलसी गुसाईं भयौ, भोंड़े दिन भूलि गयौ, ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।" लौकिक और पारलौकिक, दोनों जीवनोंमें उत्थान समझकर दरिद्रताका मुँह काला कर दिया, अर्थात् खूब सम्पत्तिशाली हो गये। उस समय उसी धनसे रामभक्ति और मानस का प्रचार और प्रसार वे खूब करते रहे। ब्राह्मणोंकी प्रशंसा भी उन्होंने भरपेट की और जो अटूट धन मिला था, उसका उपयोग भी उन्हीं कामोंमें करते रहे। इससे सम्भवत: उनका सारा धन समाप्त हो गया था, पर उनकी ख्याति और मानसका प्रचार पर्याप्त मात्रामें हो गया था। गोस्वामीजी को जो धन मिला था, वह अकबर बादशाह के अनुयायियों, दरबारियों और कर्मचारियोंसे मिला था; पर उसका प्रयोग उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम मेलकी जड़ उखाड़ने और अकबर के विरोधमें ही किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन लोगोंने हाथ खींच लिया। थोड़े ही दिनोंमें वह अटूट धन-राशि समाप्त हो गई। तभी वे कह बैठते हैं—

"सोई है खेदु जो बेदु कहैं न घटै जनु जो रघुबीर बढ़ायौ।।"

कवितावली, उत्तर कांड, ६०

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी को यह पूर्ण विश्वास था कि राम-भक्ति और मानस के प्रचारके कारण उनको वैसा ही धन मिलता रहेगा। परन्तु उनकी वृद्धावस्था अत्यन्त कष्टमय व्यतीत हुई और अपने साथियों पर भी उनका विश्वास नहीं रहा। पहले वे "हंस कियौ बक तें" की भावना रखते और कहा करते थे—

"पातक पीन कुदारिद दीन मलीन धरे कथरी करवा हैं।
लोग कहैं विधि हून लिख्यौ सपनेहुँ नहीं अपने बरवा हैं।।
रामको किंकर सो तुलसी, समुझें हि भलौ कहिबौ न रवा है।
ऐसो को ऐसो भयो कबहूं न भजे बिनु बानर के चरवा है।।"

कवितावली, उत्तर कांड, ५६

अर्थात् जहां गोस्वामीजी अत्यन्त पापी दरिद्र और कथरी व टोंटीदार मिट्टीका बर्तन लिये फिरते थे, वहां अपनी प्रशंसा और एश्वर्य की चर्चा न करनेका लिहाज़ करके कह देते हैं—"समुझेहि भलो कहिबो न रवा है।" इसके साथ ही गोस्वामीजी फिर कहते हैं—

"मातु पिता जग जाइ तज्यौ विधि हू न लिखी कछु भाग भलाई।
नीच निरादर-भाजन कादर कूकर टूकन लागि ललाई॥
राम-सुभाउ सुन्यौ तुलसी प्रभुसों, कह्यौ बारक पेट खलाई।
स्वारथ कौं परमारथ कौं रघुनाथु सो साहेबु खोरि न लाई॥"

कवितावली, उत्तरकांड, ५७

इससे स्पष्ट है कि माता-पिताने पैदा होते ही उन्हें त्याग दिया था। और ब्रह्माने भी कुछ भागमें भलाई नहीं लिखी थी। वे मानते हैं कि राम की कृपासे मेरे दिन फिर गये; पर वास्तविक रूपमें देखा जाय तो अकबर की उदारताका ही वह परिणाम था। नहीं तो वृद्धावस्थामें उनकी पिछली दशासे वास्तविकताका पता लग जाता है। इसीसे निराश हो वे कहते हैं—

"छारतें सँवारि कें पहार हू तें भारौ कियौ,
गारौ भयौ पंचमें पुनीत पच्छ पाय कें।
हौं तौ जैसो तब तैसो अब अधमाई कै कै,
पेटु भरौं राम रावरोई गुन गाय कें॥
आपने निवाजे की पै लाज कीजै महाराज,
मेरी ओर हेरि कैं न बठिए रिसाय कें॥
पालि कें कृपाल व्यालबाल को न मारिये,
औ काटिये न नाथ विषहू को रूख लाइ कें॥"

कवितावली, उत्तर कांड, ६१

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी की दशा पहले बहुत बुरी थी। फिर अध्ययन करते हुए भी साधारण-सी ही रही, पर रामायणकी रचनासे उनका प्रभाव बढ़ा और महाराजा मानसिंह के सम्मानसे प्रतिष्ठा और वैभव दोनोंकी बड़ी वृद्धि हुई। पर कुछ वर्षों बाद उनकी वह समृद्धि नष्ट हो गई तथा लगभग २० वर्षका अन्तिम समय रोगग्रस्त दशामें

दीन-हीन होकर व्यतीत करने पड़े। इस रचनामें आपने अनेक वार इस गिरी दशाका चित्रण किया है और यहां तक कह वैठे हैं कि सर्पके बच्चेको भी पालकर न मारना चाहिए तथा विषका भी वृक्ष लगाकर उसे काटना उचित नहीं है।

गोस्वामीजी फिर कहते हैं—

"सब अंग हीन सब साधन विहीन,
मन-वचन मलीन हीन कुल करतूति हौं।।"

इससे स्पष्ट है कि वे इस रचनाके समय अंग-हीन हो चुके थे। साधन भी नहीं रहे थे। मन, वचन, कुल, करतूति सभीसे हीन होकर जीवन व्यतीत कर रहे थे। वे आत्माकी गिरावट पर अत्यन्त पश्चात्ताप कर रहे थे तथा वैभवहीनताने उन्हें सभी प्रकारसे जर्जरित और दीन बना दिया था। उसी समय रोगग्रस्त होनेके कारण शारीरिक पीड़ा भी बढ़ गई थी और दाहिना हाथ भूठा पड़कर लूला हो चुका था। इन वर्णनोंसे ऐसा अनुमान होता है कि वे हिन्दू-मुस्लिम-विरोधी कार्य-प्रणालीको ठीक नहीं समझने लगे थे। इसीसे जिस शृंगारिकताकी भावनाको उन्होंने त्याज्य मान रखा था उसी को गीतावली, कृष्ण-गीतावली, कवितावली और बरवै रामायणमें कुछ गहरा कर दिया है। पर इन्हीं भावनाओं के साथ जब क्रोधकी मात्रा अधिक बढ़ती है तब मुसलमान बादशाह, कर्मचारियों और सभासदोंको खूब जी भरकर कोसने लगते हैं तथा कलियुगके रूपमें भी उन का चित्रण करते हैं। पर पहले की सी भूल अकबर का कोई दरवारी नहीं कर सका। एक प्रकारसे मानसिंह ने स्वयं अपने साम्राज्य और सम्राट् व देश सभीसे धोखा खाया था, जिसका फल भी यह हुआ कि हिन्दू-मुस्लिम मेलकी भावना और राष्ट्रीयताकी विचारधारा बहुत समय के लिए लुप्त हो गई।

गोस्वामीजी अपनी इस भावनाको फिर यों व्यक्त करते हैं—

"नाथ हू न अपनायौ लोक भूठी है परी पै,
प्रभु हू तें प्रबल प्रताप प्रभु-नाम कौ।
आपनी भलाई भलौ कीजै तो भलाई, न तौ,
तुलसी कौ खुलैगो खजानौ खोटे दाम कौ।।"

कवितावली, उत्तर कांड, ७०

इससे यह स्पष्ट है कि गोस्वामीजी को बुढ़ापेमें राम ने भी सहायता करना छोड़ दिया था, जिससे कलियुग उन्हें बहुत परेशान करता था। पर राम-भक्तिमें उनकी प्रसिद्धि अवश्य थी। रचनाएं तो सभी राम के लिए की हैं। राम की भलमनसाहतसे वे उनके द्वारा अपनाये जानेकी आशा भी करते थे। अन्तको विफल होकर पूतरा बांधने तककी धमकी देनेमें भी नहीं चूके। पर उनकी यह सब गुहार व्यर्थ ही हुई।

फिर गोस्वामीजी कहते हैं—

"जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस,
खाये टूक सबके विदित बात दुनी सो।
मानस वचन काय किये पाप सतिभाय,
राम कौ कहाय दास दगाबाज पुनी सो।
राम नाम कौ प्रभाउ पाइ महिमा प्रतापु,
तुलसी सो जग मनियत महामुनी सो।
अति ही अभागो अनुरागत न राम-पद,
मूढ़! एतो बड़ो अचरिजु देखि सुनी सो।।"
कवितावली, उत्तर कांड, ७२

इस बातको गोस्वामीजी अनेक स्थलों पर व्यक्त कर चुके हैं। यहां हिन्दू-मुस्लिम मेलकी भावनाके बाधक रूपको "दग़ाबाज़ी" शब्दसे चतुराईके साथ व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है। यह भी ठीक है कि प्रोपेगेंडाके प्रभावसे संसारमें महामुनि माने जाने लगे थे। इसके साथ ही रामभक्तिके प्रभाव तथा सदाचारकी प्रवृत्तियोंके विश्लेषणसे सत्यवादिता का आभास भी अवश्य उनमें मिल जाता है। परन्तु सांसारिक जीवनमें व्यवहार-कुशलता की भी आवश्यकताका अनुभव सभी करते हैं। अतः देशहितकर भावनाओंको उन्हें आंखों से ओझल नहीं करना चाहिए था। उस समय अकबर और उनके सहयोगियोंने जो मेल का आयोजन किया था, उससे गोस्वामी तुलसीदासजी सहमत नहीं हो सके थे। इसका दुष्परिणाम इतना भयंकर हुआ है कि आज सभी विचारवान् इस त्रुटिको मान रहे हैं। गोस्वामीजी ने निम्नलिखित पद्यमें कुछ ऐसी बातें कहीं हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलतीं। जब गोस्वामीजी ने अनुभव किया कि हम भगवान् राम के सम्मुख बिल्कुल शुद्ध हृदयकी बातें नहीं रख रहे हैं तो उन्होंने कुछ आगे भी क़दम बढ़ाया। पर साथ ही "सुनत

सिहात सोचु विधिहू गनकको" के द्वारा ब्रह्मा व धर्मराज के सिहाने व चिन्ताकी बात भी कह डाली। 'सिहाना' ऐश्वर्यका द्योतक है। तथा 'सोच' परिताप व पापकी भावनाको प्रकट करता है।

वह पद्य यह है—

"जायौ कुल मंगल बधावनौ बजायौ सुनि,
भयौ परितापु पापु जननी जनक कौं।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक कौं॥
तुलसी सो साहेब समर्थ कौ सुसेवकु है,
सुनत सिहात सोचु बिधि हू गनक कौं।
नामु राम, रावरो सयानौ किधौं बावरौ,
जो करत गिरी तें गरुवन तें तनक कौं॥"

कवितावली, उत्तर कांड, ७३

उनकी उत्पत्तिसे माता-पिताको दुःख भी हुआ और पाप भी लगा। अभुक्त मूलमें उत्पत्तिकी कथा गढ़ी हुई जान पड़ती है। इसके द्वारा पापकी अवतारणा नहीं मानी जाती। ये ब्राह्मण कुलमें अवश्य उत्पन्न हुए थे। पर इस कथनके द्वारा किसी प्रकारकी अनुचित भावना ही जान पड़ती है। इसीलिए माता-पिताने उन्हें त्याग देनेमें अपना कल्याण समझा हो। "बधावनौ बजायौ" का आशय केवल यही माना जा सकता है कि कुछ मँगते उनके यहां पहुँचे थे। इसीलिए गोस्वामीजी अपना वंश-परिचय देनेमें बहुत हिचकिचाते हैं और चिढ़कर कह बैठते हैं कि शाहका गोत्र ही गुलामका भी गोत्र होता है। एक बार वे "भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज शरीर भलो लहि कै" भी कह चुके थे, जिसमें अंशतः विचार अवश्य सत्य थे, पर 'पाप' की बातका उन्होंने इसमें उल्लेख नहीं किया था, जिसे वे राम के सम्मुख प्रकट कर देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने यहां पर उसे व्यक्त कर दिया है। 'विधिहु गनक' का नाम कवि-प्रणाली और भक्ति-भावना मात्रका द्योतक है। साथ ही कहा है कि हे राम, आपका नाम चतुर है या बावला? जो छोटोंको कड़ा बना देता है। इन दोनों भावनाओंमें गोस्वामीजी की निजी विचारधाराका मिश्रण भी होनेकी सम्भावना है। 'सयानौ' से अकबर के विरोधरूप कार्यों, सामाजिक

संगठनों तथा मानसिंह महाराजसे धन पानेकी बात हो सकती है। और 'बावरो' से भाव पूर्ण राम-भक्तिकी पराकाष्ठाका दिग्दर्शन होता है। 'समर्थ कौ सुसेवकु है' की गर्वोक्ति भी इसी बातका प्रतिपादन करती है और हमारी विवेचन-प्रणालीका समर्थन भी इसीसे हो जाता है।

गोस्वामीजी फिर अपनी अवस्थाका चित्रण करते हुए लिखते हैं—

"भाई कौ भरौसौ न खरो सौ बैरु बैरी हू सों,
बलु अपने न हितु जननी न जन कौ।
लोक कौ न डरु परलोक कौ न सोचु देव,
सेवा न सहाय गर्व धाम कौ न धन कौ॥"

कवितावली, उत्तर कांड, ७७

इससे प्रतीत होता है कि उन्हें अपने भाईका न तो भरोसा था और न शत्रुओंकी ही ऐसी अधिकता थी, जिससे परेशान हों। न स्वयं वे अधिक शक्तिशाली थे, और न माता-पिताका प्रेम ही मिला हुआ था। संसारसे भिन्नता या वैराग्य होनेके कारण उनको न तो भय या चिन्ता थी और न परलोक का दुःख ही सता रहा था। किसी देवकी सेवा व सहायता का भरोसा भी नहीं रहा था। तथा स्थान और धनका गर्व भी उन्हें कुछ नहीं था। इससे तुलसी-विषयक कई बातोंका हमें परिज्ञान हो जाता है। उनका कोई भाई शायद ही हो, जिससे वे अपनी सहायताकी आशा रखते। शत्रु भी थे, पर उनमें प्राणघातक भावना नहीं थी। सैद्धान्तिक मतभेदके कारण कुछको वे शत्रु अवश्य समझते थे, जिनमें अकबर आदिकी गणना भी की जा सकती है। पर उनसे विरोध करनेकी इच्छा नहीं रखते थे। अकबर बादशाहके उदारता आदि गुणोंसे वे भली भांति परिचित थे। इसीसे खरी शत्रुताका भय उनको नहीं था। लोकका भय साहित्यसेवाके प्रभावसे होना ही न चाहिए था। और न देवी-देवताओंकी सेवासे सहायताकी ही वे आशा कर रहे थे। इस प्रकार वे राम, सीता, हनुमान्, कृष्ण, पार्वती, शिव, गंगा, यमुना, गणेश, सूर्य आदिकी उपासना, प्रार्थना आदिको व्यर्थ मानकर केवल राम-नाम-स्मरणको ही मुख्य मानने लगे थे। इससे ऐसा भी अनुमान करना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि अन्तमें वे क़बीरके राम नामका भरोसा करते जान पड़ते हैं। अन्तिमकालमें गोस्वामीजी के हृदयमें यह निराशाका समुद्र कैसे उमड़ पड़ा, इसे हम 'बाहुक' द्वारा भली भांति समझ सकते हैं। धाम और धन भी क्षीण हो चला था, अतः गर्वके लिए स्थान ही नहीं रह गया था। रोग, दुःख, दारिद्रय और क्लेश बढ़ गये थे,

जिन्होंने उन्हें त्रस्त कर डाला था। तब वे बादशाह और उसके दरबारियों तथा कर्मचारियों से रुष्ट हो उन्हें गालियां देनेमें भी नहीं हिचके। पर इससे उनकी स्थितिमें कुछ भी सुधार नहीं हुआ। फिर गोस्वामीजी कहते हैं--

"मोह मद मात्यौ रात्यौ कुमति कुनारि सौं,
बिसारि बेद लोकलाज आँकरौ अचेतु है।
भावै सो करत, मुख आवै सो कहत,
कछु काहू की सहत नाहिं सरकस हेतु है।।
तुलसी अधिक अधमाई हूं अजामिल तें,
ताहू में सहाय कलि कपटनिकेतु है।
जैबे कौं अनेक टेक, एक टेक ह्वैबे की जो,
पेट प्रिय पूत हित रामनामु लेतु है।।"

कवितावली, उत्तर कांड, ८२

जब कभी गोस्वामीजी शान्तिके साथ अपनी दशा पर विचार करते हैं, तो अपनी उन ग़लतियोंको स्वयं अनुभव करते तथा पश्चात्ताप करते जान पड़ते हैं। ऊपरका कवित्त इसी अवस्थाका द्योतक है। तब वे कह बैठते हैं कि मैं मोह और मदमें मतवाला हो रहा हूं। दुर्बुद्धिरूपिणी स्त्री पर अनुरक्त हूं। वेद-मार्गको भुला दिया है। लोक-लज्जा छोड़ दी है। मैं अत्यन्त अकड़ू या बेपरवाह हो रहा हूं। जो इच्छा होती है, वही कर बैठता हूं। और जैसा जीमें आता है, कह बैठता हूं। किसीकी बात बर्दाश्त नहीं होती, और सदैव सरकशी करता रहता हूं। अजामिल से भी अधिक पापी हूं। उस पर कलियुग जैसा कपटी मेरी सहायता कर रहा है। और सब मेरी टेकें तो नष्ट हो गई हैं, केवल एक ही टेकका निर्बाह हो रहा है कि अपना पेट भरनेके लिए राम नाम ले रहा हूं। कैसे स्पष्ट और हार्दिक उद्‌गार हैं। फिर गोस्वामीजी कलियुगके प्रभावका चित्रण करते हुए कहते हैं—

"जागिए न सोइए बिगोइए जनमु जाय,
दुख रोग रोइए कलेस कोह काम को।
राजा रंक रागी औ बिरागी भूरिभागी ये,
अभागी जीव जरत, प्रभाउ कलि बाम को।।

तुलसी कबन्ध कैसो धाइबो विचारु अन्ध,
धन्ध देखियत जग सोचु परिनाम को।
सोइबो जो राम के सनेह की समाधि सुख,
जागिबो जो जीह जपै नीके राम नाम को।।"

कवितावली, उत्तर कांड, ८३

अर्थात् सारा समाज कैसा दुःख रोग आदिसे ग्रस्त और कबन्ध की भांति विचारोंसे रहित अन्धों-जैसा व्यवहार करता है और उसके फलस्वरूप दुःख पाता है। इसका इलाज एकमात्र रामभजन है। फिर कहते हैं—

"पाइ सुदेह बिमोह-नदी-तरनी न लही करनी न कछू की।
राम-कथा बरनी न बनाइ, सुनी न कथा प्रहलाद न ध्रू की।।
अब जोर जरा जरि गात गयौ, मन मानि गलानि कुबानि न मूकी।
नीके कै ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ी उर आखर दू की।।"

कवितावली, उत्तर कांड ८८

इससे भी प्रकट है कि उनका शरीर सुडौल व सुन्दर था, जिसका उल्लेख उन्होंने कई बार किया है, पर बुढ़ापे और रोगसे फिर क्षीण हो गया था। मनमें ग्लानि और कुबानि (बुरी टेव) भर रही थी; उन्हें छोड़ा नहीं था। अब वे राम नामके दो अक्षरोंका ही एक भरोसा करते हैं। गोस्वामीजी जब कलियुगसे तंग आ गये और इस जीवनको दुःख रोग आदिसे घिरा पाया, साथ ही आर्थिक कष्ट भी बढ़ गये, तब वे और भी चिढ़ गये और बादशाह तथा उसके समाजको भी कोसने लगे। कहते हैं—

"वेद पुरान बिहाइ सुपंथु कुमारगु कोटि कुचालि चली है।
काल कराल नृपाल कृपाल न, राज समाजु बड़ोई छली है।।
वर्न विभाग न आस्रम धर्म दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।
स्वारथको परमारथको कलि राम कौ नाम प्रतापु बली है।।"

कवितावली, उत्तर कांड, ८५

अर्थात् गोस्वामीजी के विचारसे लोग वेद-पुराणका मार्ग त्याग कर करोड़ों कुचालें चल रहे हैं। समय बुरा है। बादशाह दयालु नहीं, और राजसमाज बड़ा ही छली है।

वर्ण-विभाग व आश्रमधर्म सभी बिगड़ रहे हैं। संसारको दुःख, दोष और दरिद्रताने दबा रखा है। इस दशामें केवल राम नामका ही सहारा है। अन्तमें जब उन्हें कहीं भी सहारा नहीं मिला तो निराश हो कहते हैं—

"जीव जहान में जायो जहां सो तहां तुलसी तिहूँ दाह दह्यौ है।
दोष न काहू कियौ अपनौ सपनेहू नहीं सुख लेसु लह्यौ है॥
राम के नाम तें होहु सो होहु न सोउ हिये रसना ही रह्यौ है।
कियौ न कछू करिबौ न कछू, कहिवो न कछू, मरिवो ही रह्यो है॥"

कवितावली, उत्तर कांड, ६१

इससे हम गोस्वामीजी के विचारों और अन्तिम दशाका अनुमान कर सकते हैं। वे इस समय कितने निराश हो गये थे, यह इस सवैये से स्पष्ट है। उनकी इस समयकी 'रचनाओं' में उनकी निराशा पद पद पर झलकती है।

मालूम होता है, इस समय चिड़चिड़े हो जानेके कारण लोग बहुधा उन्हें छेड़ा करते थे और वे भी उस दशामें जो मनमें आता था, कह डालते थे—

'जीजे न ठाउँ न आपन गाउँ, सुरालय हू को न संबलु मेरे।
नाम रटौं जम-वासु क्यों जाउं, को आइ सकै जम-किंकरु नेरे॥
तुम्हरो सब भांति तुम्हारिअ सौं, तुम ही बलिहौ मौंहि ठाहरु हेरे।
बैरख बांह बसाइए पै, तुलसी घरु ब्याध अजामिल खेरे॥"

कवितावली, उत्तर कांड, ६२

यद्यपि वे अपने जीवनमें निवासके स्थानसे रहित थे, और स्वर्गके लिए भी कोई सामग्री नहीं जुटाई थी, फिर भी नामके प्रतापसे वे कह बैठते हैं कि मैं यमलोक कदापि नहीं जाऊंगा तथा यमदूत मेरे समीप फटक भी नहीं सकते। स्पष्ट है कि कुछ लोग उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बातें कह कर छेड़ा करते थे और वे भी चिढ़कर उनका उत्तर देते थे। पुराण आदिमें अजामिल की सी कथाएं केवल भावुकतावश लिख दी गई हैं। उनमें सत्य का अंश कुछ भी नहीं है। ऐसी कथा रचनेवाले परमात्मा को भी अज्ञानी, अन्ध-विश्वासी अल्पज्ञ तथा मूर्ख मानकर ही चलते हैं। उसकी न्याय-प्रियता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता पर उन्हें भरोसा नहीं होता। वैज्ञानिक युगमें ऐसे विचार रखनेवाला भी धूर्त, मक्कार और पाखंडी माना जाना चाहिए।

अन्तमें गोस्वामीजी परेशान होकर कलियुगसे ही बड़े विनम्र भावसे प्रार्थना करते हैं—

"सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल, तुम,
जाहि घालौ चाहिए कहौ धौं राखै ताहि को।
हौं तो दीन दूबरो बिगारौ ढारौ रावरो न,
मैं हूं, तैं हूं ताहि कौ सकल जग जाहि को॥
कामु कोहु लाइकैं दिखाइयतु आंखि मोहि,
एते मान अकसु कीबे कौं आपु आहि को।
साहिब सुजान जिन स्वान हू कौ पच्छु कियौ,
रामबोला नाम हौं गुलाम राम साहि कौ॥"

कवितावली, उत्तर कांड १००

वह कलियुगको भूमिपाल शब्दसे संबोधित कर कहते हैं कि आप जिसे मिटाना चाहें उसे कोई नहीं बचा सकता। मैं अत्यन्त दीन व दुर्बल हूं। मैंने आपका क्या बिगाड़ा है, जो मुझे हैरान कर रहे हो? हम तुम सभी राम के बन्दे हैं। फिर क्यों क्रोधित हो मुझे आंख दिखाते हो? ऐसी शत्रुता और द्वेष भाव क्या आपको रखना चाहिए? जो भगवान् कुत्ते का भी पक्ष लेनेवाले और न्यायी हैं, उन्हींका मैं दास हूं और मेरा नाम "राम बोला" है।

इससे उनकी निराशाकी पराकाष्ठाका अनुमान किया जा सकता है। उनके बचपनके 'रामबोला' नामका भी पता लग जाता है। जब वे एक-एक देवतासे बिनती करके थक गये; विनय-पत्रिकाकी अर्जी तथा बीसियों देवताओंकी प्रार्थनाएं व्यर्थ हो गईं, और कलियुगसे भी निहोरा करने पर कुछ फल न निकला, तब एक साथ रामचन्द्र के परिवार और हनुमान्जी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

"हनुमान! ह्वै कृपाल, लाड़िले, लखन लाल!
भावते भरत कीजै सेवक सहाय जू।
बिनती करत दीन दूबरौ दयावनौ सो,
बिगरे तें आपु ही सुधारि लीजै भाय जू॥
मेरी साहिबिनी सदा सीस पर बिलसति,
देबी क्यों न दास कौं दिखाइयत पांय जू।

रीझहू में रीझिबे की बानि सदा रीझत हैं,

रीझे ह्वै हैं राम की दुहाई रघुराय जू॥"

कवितावली, उत्तर कांड, १३६

इस प्रकार शिवजी आदिसे निराश होकर राम-पंचायतनसे फिर रक्षाकी प्रार्थना की है। विनय-पत्रिकामें राम की सही कराने पर भी वे (राम) प्रसन्न हुए होंगे, यह कहना अपनी भूलको स्वीकार करनेके समान है। इसके पश्चात् गोस्वामीजी शिवजी के किसी गणकी खोर मानकर बाहु-पीड़ाके लिए फिर शिवजी को उलाहना देते हैं—

"देव-सरि सेवौं वामदेव गांउ रावरे ही,

नाम राम ही के मांगि उदर भरतु हौं।

दीबे जोग तुलसी न लेत काहू कौ कछूक,

लिखी न भलाई भाल, पोच न करतु हौं॥

एते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै,

ताकौ जोर देव! दीन द्वारे गुदरतु हौं।

पाइ कैं उराहनौ उराहनो न दीजै मोहिं,

कलिकाल कासीनाथ कहे निवरतु हौं॥"

कवितावली, उत्तर कांड, १६५

अर्थात् हे शिवजी! आपके गांव काशीजी में गंगाजीका सेवन करता और राम नाम लेकर पेट पालता हूं। मैं न तो किसीको कुछ देने योग्य हूं और न किसीसे कुछ लेता ही हूं। यदि मेरे भाग्यमें भलाई नहीं लिखी तो इसका मुझे सोच नहीं है। हे महेश, आपके किसी गणकी इस खोरके लिए आपको उलाहना दूं तो मुझे आप उलाहना न दीजिएगा। कलिकालमें काशीनाथका भजन करता रहता हूं। अतः आप मुझे बचाइए। सम्भवतः इसमें करामातकी भावना निहित हो, जिसके कारण शिव का कोई गण रुष्ट हो गया हो। उसी का उल्लेख गोस्वामीजी स्पष्ट रीतिसे कर देते हैं। गोस्वामीजी ने इस भावनामें अन्ध-विश्वासकी हद कर दी है। जिन शिव को गुरु, पितु, मातु सब माना, उनके प्रति उनका यह रुख उसी अन्ध-विश्वासके कारण हुआ है। फिर कहते हैं—

"चेरो राम राइ कौ सुजस सुनि तेरो हर!

पांइ तरे आइ रह्यौ सुरसरि तीर हौं॥

बामदेव! राम कौ सुभाव सील-जानियत,
नातौ नेह मानियत रघुबीर भीर हौं।
अधिभूत बेदन विषम होत भूतनाथ,
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिये तौ अनायास कासी-बास खास फल,
ज्याइए तौ कृपा करि निरुज सरीर हौं॥"

कवितावली, उत्तरकांड, १६५

इससे जान पड़ता है कि राम के चेरे होते हुए भी वह शिवकी शरणमें आये थे। कहते हैं—आपका राम से सम्बन्ध है और मैं भी राम का एक अनुयायी या सेवक हूं। हे भूतनाथ! आपके गण द्वारा उठाई पीड़ा आधिभौतिक विषम पीड़ाके रूपमें व्याप्त है। यह घोर पीड़ा शरीरमें भर रही है। आप इससे मेरी रक्षा कीजिए। आप जिलाइए तो मुझे नीरोग कर दीजिए और अगर मारिएगा तो काशीवासका फल मोक्ष मिलेगी। मेरे दोनों हाथ लड्डू हैं। इससे हम तुलसीदास की विषम अवस्थाका अनुमान कर सकते हैं। यह "क्षणे रुष्ट: क्षणे तुष्ट:" की सनक उनमें बहुत समय तक रही प्रतीत होती है। फिर भूतगणसे शंकितसे होते हुए वे शिव-गणों और रामभक्तोंके अन्तरको दिखलाते हुए कहते हैं—

"भूत भव! भवत पिसाच भूत प्रेत प्रिय,
आपनो समाज सिव आपु नीकें जानिए।
नाना बेष वाहन, बिभूषन, बसन, बास,
खान-पान, बलि-पूजा विधि को बखानिए॥
राम के गुलामनि की रीति प्रीति सूधी सब,
सब सों सनेह सब ही कों सनमानिए।
तुलसी की सुधरै सुधारे भूतनाथ ही के,
मेरे माय, बाप, गुरु संकर भवानिए॥"

कवितावली, उत्तरकांड, १६८

गोस्वामीजी ने इस पीड़ा को दूर करने और खोर हटानेके लिए साम, दाम, भेद, दंड सभीसे काम लिया था। पर उनकी पीड़ा कम न हुई, बराबर बढ़ती ही गई। अन्तमें

हनुमान्‌जी से पूर्ण सहायताकी आशा करके उन्होंने 'हनुमान्-बाहुक' की रचना की। पर उन्हें फिर भी निराश ही होना पड़ा।

गोस्वामीजी की बाहु-पीड़ाके विषयमें मेरा अनुमान है कि रचनाओंके लिए अधिक परिश्रम करनेके कारण लेखनी घसीटने से उनकी दाहनी बाँह कमजोर पड़ गई थी। दाहनी बाँह होने के कारण उनका विशेष चिन्तित होना और भी स्वाभाविक है। फिर उसीमें प्लेग की गिल्टी निकलने अथवा इसी प्रकारका रोग होनेके कारण मवाद आदि बराबर निकलता रहता होगा। उन्होंने स्वयं "बरतोर" का उल्लेख किया है। गोस्वामीजी का प्रार्थना आदि पर गहरा विश्वास एक प्रकारसे ढीला पड़ गया था। अनेक वर्षों तक कष्ट भोगकर अन्तमें वह परलोकवासी हो गये। उस बाँहसे वे काम करनेमें भी असमर्थ हो गये थे। अत: लूले होनेकी भी उन्होंने चर्चा की है।

गोस्वामीजी का कार्य बहुमुखी था। सामाजिक, पारिवारिक, साहित्यिक व व्यक्तिगत उत्कर्ष देनेवाली बातें उन्होंने बहुत अच्छी और भावपूर्ण कही हैं; परन्तु संगठनके विषय में वे वैसी परिष्कृत भावना न दे सके। हिन्दूसमाजके कुछ भिन्न-भिन्न अंगोंका संगठन अवश्य किया था; पर देशको राष्ट्रीय रूप देनेकी क्षमता उनमें न थी। स्त्री-समाज और शूद्रोंके प्रति भी उनकी भावना अच्छी नहीं थी। यहां तक कि गोरखनाथ के वैदिक अंगवाले योगकी निन्दा कर डाली थी। वास्तवमें गोस्वामीजी प्रचारवादी साम्प्रदायिक नेताके रूपमें ही हमारे सामने अधिक आते हैं, जिसके कारण हिन्दू-मुसलिम-मेल की साधना सब नष्ट हो गई। गोस्वामीजीके अध्ययनसे मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ। परमात्मा देश और समाज को सद्‌बुद्धि दे कि समालोचनात्मक प्रणालीसे तथ्य रूपमें यथार्थताका ग्रहण करनेकी क्षमता उसे प्राप्त हो। अंधविश्वास, अज्ञान और करामातोंसे हम बचें और वैज्ञानिक सन्मार्ग तथा सत्यनिष्ठाकी ओर अग्रसर हों।

२५

हनुमान्-बाहुक

हनुमान्-बाहुक गोस्वामीजी की सबसे अन्तिम रचना, कवितावलीका अन्तिम भाग है। अधिक बुढ़ापेमें उनकी बांहमें 'बरतोर' (बाल टूटने से फोड़ा)हो गया था। यह फोड़ा गोस्वामीजी को बहुत काल तक कष्ट देता रहा। इसके लिए उन्होंने अनेक प्रकारकी दवा दारूकी,जंत्र-मंत्र टोटका आदि सैकड़ों प्रकारके इलाज किये, पर उनसे कुछ भी लाभ न हुआ। वरन् यह रोग दिन प्रति दिन बढ़ता ही गया। अन्तमें त्रस्त होकर गोस्वामीजी ने बाहुक की रचना कर डाली। इसमें हनुमान्‌जी की स्तुति, प्रशस्ति और प्रार्थना ४४ छन्दोंमें की है। यही उनका अन्तिम अस्त्र था जिसे वे काममें ला सकते थे। व्यथित हृदयकी यही अन्तिम पुकार थी। इसीलिए यह हनुमान्-बाहुक और भी महत्वपूर्ण हो गया। इसमें भावुकतावश गोस्वामीजी ने जीवनकी अनेक परिस्थितियों, दशाओं और भावनाओं पर विश्लेषणात्मक रीतिसे विचार किया है। चूंकि देवताओंके सामने हृद्‌गत भावोंको व्यक्त करनेकी आवश्यकता अनिवार्य रूपसे आ पड़ी थी, अत: बहुत-सी जीवनसम्बन्धी घटनाएं जिन्हें वे प्रकट नहीं करना चाहते थे, प्रत्यक्ष हो गई है।

इससे एक लाभ और भी हुआ है। मिथ्या किंवदन्तियोंका जो तांता गोस्वामीजी के सम्बधमें फैला हुआ है उसका निराकरण-बहुत कुछ इन स्वयंरचित छन्दों द्वारा हो गया है। कवितावली और दोहावली भी उनकी अन्तिम कालकी रचनाएं हैं, इसीलिए उनमें भी कुछ जीवन-सम्बन्धी विचारोंको स्थान मिल गया। इन दोनोंमें से दोहावलीमें तो ऐसे दो चार दोहे ही आये हैं, जो उनके जीवन पर प्रकाश डालते हैं ; पर कवितावलीमें इस विषय का अच्छा विवेचन किया गया है। चरित्रके बारेमें कवितावली सबसे अधिक सामग्री हमें

देती है। पर बाहुककी सामग्री सबसे अधिक विश्वसनीय तथा प्रामाणिक माननीय हो सकती है, क्योंकि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रभावशाली और हृदयग्राही देव (हनुमान्) के सम्मुख गोस्वामीजी को आत्मनिवेदन और स्व-दशा-चिन्तन उपस्थित करना था। और वह देवता ऐसा है जो कि सर्वव्यापी, अन्तर्यामी और नस-नसका हाल जानता है। उसके सामने जो कुछ कहा गया है उसमें झूठको स्थान नहीं मिल सकता।

बाहुकका स्तुति भाग—गोस्वामीजी ने बाहुकमें बहुत ही उत्तम स्तुति, प्रशस्ति और अपने जीवनका वृत्तान्त दिया है। हनुमान् के अलौकिक कार्योंका बखान दिया है। उन्हें लोकपालक, वीर, रसवारिधिका बलरूपी जल, सर्व-सरि-समर-समरत्थ सूरौ, देवबन्दी-छोर आदि सैकड़ों विशेषणोंसे याद करके बामदेव (शिव) का अवतार व राम का स्नेही बतलाया है—

"सेवक स्यौकाई जानि, जानकीस मानैं कानि,
सानुकूल सूलपानि नावै नाथ नाक कौं।।" बाहुक, १२

अर्थात् श्रीराम उनका लिहाज़ करते हैं, शिवजी उन पर सदैव प्रसन्न रहते हैं और इन्द्र उनके सामने विनम्र बना रहता है। इस प्रकार स्तुति व प्रार्थना करनेके बाद गोस्वामीजी ने हनुमान्‌जी से श्रीराम के महान् कार्योंके करनेकी सुध दिलाकर यशका वर्णन करते हुए अपनी ओर कुछ कृपा घट जानेका उल्लेख किया है। देखिए—

"वीर बरजोर घटि जोर तुलसी की ओर,
सुनि सकुचाने साधु खलगन गाजे हैं।" बाहुक, १५

इससे स्पष्ट है कि 'बरतोर' की बढ़ती हुई पीड़ा और कष्टसे गोस्वामीजी इतन त्रस्त हो गये हैं कि वे निराशाके समुद्रमें खूब ग़ोते लगाने लगे हैं। अतः रक्षाके लिए हनुमान् की कृपाकी आकांक्षा करते हैं। फिर थोड़े ही में असन्तुष्ट होकर कहने लगते हैं—

"जानसिरोमनि हौ हनुमान,
सदा जनके मन वास तिहारौ।
डारौ विगारौ मैं का कौ कहा,
केहि कारन खीझत, हौं तौ तिहारौ।।

साहेब सेवक नाते तें हातौ,
किंयो सो तहां तुलसी को न चारौ।।
दोष सुनाये तें आगेहुँ कों,
हुसियार ह्वैहों मन तो हिय हारौ।।" बाहुक, १६

इससे स्पष्ट है कि इस रचनाके समय गोस्वामीजी का कष्ट अधिक बढ़ गया था और उन्होंने इसका कारण हनुमान्‌जी का रोष समझ रखा था। यही नहीं, साहेब सेवक सम्बन्ध का परित्याग भी मान लिया है। तब कह बैठते हैं कि इसमें मेरा कुछ भी वश नहीं है। फिर प्रार्थना करते हैं कि यदि मुझे मेरे दोष विदित हो जायँ तो आगेके लिए सावधान हो सकता हूँ। पर मुझे उनका कुछ भी पता नहीं। अन्तमें उनका हृदय हार मानकर बैठ जाता है। यह कैसी असमर्थताकी दशा थी, इसे गोस्वामीजी ही अनुभव कर सकते हैं।

इसके पश्चात् अगले छन्दमें हनुमान्‌जी को वृद्ध व असमर्थ समझकर कह देते हैं—

"बूढ़ भये बलि मोरिहि बार,
कि हारि परे बहुतै नत पाले।।" बाहुक, १७

अर्थात् क्या आप मेरे ही कामके अवसर पर बूढ़े हो गये अथवा अनेक शरणागतों का उद्धार करते-करते थक गये, जो मेरी पुकार पर ध्यान ही नहीं देते।

इसके आगे तुलसीदास ने बड़े ही ओजस्वी दो छन्दोंमें हनुमान्‌जी की प्रशंसा की है—

"सिंधु तरे, बड़े वीर दले खल,
जारे हैं लंक से बंक मवासे।
तैं रन केहरि केहरि के,
बिदले अरि कुंजर छैल छवासे।।" बाहुक, १८

और प्रार्थना की है—

'राम प्रताप हुतासन कच्छ,
विपच्छ समीर समीर-दुलारौ।।
पाप तें, साप तें, ताप तिहूँ तें,
सदा तुलसी कहँ सो रखवारो।।" बाहुक, १९

इतना दृढ़ विश्वास रखते हुए भी गोस्वामीजी का मन विचलित हो जाता है। इससे आप समझ सकते हैं कि गोस्वामीजी को कितनी कठिन परीक्षामें से होकर गुज़रना पड़ा था। फिर कहते हैं—

"जानत जहान हनुमान कौ निवाज्यौ जन"
अतः "बांह-पीर महाबीर, बेगि ही निवारिए" बाहुक, २०

फिर अपना दृढ़ विश्वास इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

"रावरौ भरौसौ तुलसी के रावरौ ही बल,
आस रावरी है दास रावरौ विचारिये।" बाहुक, २१

इन छन्दोंमें बाहु-पीर दूर करनेके लिए गोस्वामीजी ने घोर प्रयत्न किया है। साथ ही 'कलियुग' को इस 'बांह-पीर' का दोषी ठहराया है—

"बड़ो विकराल कलि काकौं न विहाल कियौ"

अर्थात् इस करालकलि ने किसको व्याकुल नहीं कर दिया? सबको इतना तंग कर रखा है; मुझ पर भी इसकी कृपा हो रही है। अतः इस बाहुपीरको सिंहिका राक्षसी की तरह मारकर नाश कर दीजिए, क्योंकि "मोसे दीन दूबरे कौं तकिया तिहारिए" है।

फिर इस बांह-पीरकी पूतनासे उपमा देते हुए 'कपिकान्ह' से कहते हैं कि वह "तेरे मारे मरैगी"।

गोस्वामीजी ने इस पीड़ासे बचनेके लिए जंत्र, मंत्र, तंत्र, टोटका आदि भी किये थे। इसे भी गोस्वामीजी के शब्दोंमें ही सुनिये—

"भालकी कि कालकी कि रोषकी त्रिदोष को है,
वेदन विषम पाप ताप छल छांह की।
करम न कूट की कि जंत्र मंत्र बूट की
पराहि जाहि पापिनी मलीन मन मांह की॥
पैहहि सजाय नत कहत वजाय तोहिं,
बावरी न होहि बानि जानि कपिनाहकी।
आन हनुमान की दुहाई बलवान की,
सपथ महाबीर की जो रहै पीर बांह की॥" बाहुक, २६

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी जंत्र, मंत्र, टोटका आदिमें गहरा विश्वास रखते थे। पर इस बाहुपीरकी घटनाने प्रत्यक्ष कर दिया कि ये सब थोथे अन्ध-विश्वास हैं। इनसे रोग-नाशकी आशा अवश्य निराशामें परिणत होगी।

बाहुकके ३०वें छन्दमें भी यही भाव व्यक्त किया गया है। यथा--

"आपने ही पापतें त्रितापतें कि सापतें,
बढ़ी ही बांह-वेदन कही न कहि जाति है।
औषधि अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किये,
बादि भये देवता, मनाये अधिकाति है॥
करतार, भरतार, हरतार कर्म काल,
को है जग जाल जो न मानत इताति है।
चेरौ तेरौ तुलसी तू मेरो कह्यो रामदूत,
ढील तेरी बीर, मोहिं पीर तें पिराति है॥" बाहुक, ३०

इससे प्रकट होता है कि बांहकी पीड़ा दिन पर दिन बढ़ती ही चली गई थी। यहां तक कि न सहन होती थी और न कही ही जा सकती थी। अनेक प्रकारकी दवा दारू, जंत्र, मंत्र, टोटका आदि सब कुछ किया, पर कुछ भी असर न हुआ। इसीलिए तुलसीदासजी हनुमान्जी पर निर्भर हो जाते हैं--

"साम-दाम भेद विधि-वेदहु लबेद सिद्धि,
हाथ कपिनाथ के है चोटी चोर साहु की।
आलस अनख परिहास कै सिखावन है,
एते दिन रही पीर तुलसी के बांह की॥" बाहुक, २८

इससे साफ़ जान पड़ता है कि गोस्वामीजी हनुमान्जीको सर्वोपरि देवता मानते थे। फिर यह शिकायत करते हैं कि आपने चाहे आलस्य, अनख, हँसी अथवा शिक्षा देनेके लिए यह पीड़ा दूर नहीं की, इसीलिए इतने अधिक दिनों तक यह पीड़ा चलती रही है। इसे तुमही दूर कर सकते हो। अतः इससे मेरी रक्षा करो। हनुमान्जी को भी वह पीड़ा-नाशमें विलम्ब का दोषी समझते थे। इसीसे कहते हैं—

"इतनो परेखौ सब भांति समरत्थ आजु,
कपिराज सांची कहौं को तिलोक तोसो है।

सांसति सहत दास कीजै देखि परिहास,
चीरी कौ मरन खेल बालकनिको-सो है।" बाहुक, २६

वे कहते हैं कि इस अपनी दिल्लगी को तो देखिए। वही दशा है कि चिड़ियाके मरने में बालक आनन्द पाते हैं।

हनुमान्‌जी को वे अपना मानते थे और उनसे काम लेना अपना हक़ समझते थे, पर इस बांह-पीरको दूर करनेमें उन्हें असफल मानकर वे कहते हैं—

"थोरी बांह पीर की बड़ी गलानि तुलसी कौं।"

यह उपेक्षा तुलसी को असह्य हो जाती है। और कहते हैं—

"क्रोध कीजै कर्म कौ, प्रबोध कीजै तुलसीकौं,
सोधु कीजै तिनको जो दोष दुःख देत हैं।" बाहुक, ३२

इसमें भी वे गम्भीर होकर कहते हैं कि मेरे कर्मोंको आप ताड़ना दें और मुझे समझा दें तथा उनका भी पता लगा दें जिन्होंने यह बाहु-पीड़ा उत्पन्न कर दी है। इससे स्पष्ट है कि वे इस पीड़ाको किसी दुष्ट देवताकी खोर मानते थे। फिर हनुमान् को मर्यादापालक समझकर कहते हैं—

"देखिये न दास दुखी तोसे कनिगर के।" बाहुक, ३३

अर्थात् तुम जैसे मर्यादापालकके दास दुखी नहीं देखे जाते। फिर कहते हैं—

"पालौ तेरे टूक कौ परेहू चूक मूकिये न,
कूर कौड़ी दू को हौं आपनी ओर हेरिये।
भोरा नाथ भोरे ही सरोष होत होत थोरे दोष,
पोषि तोषि थापि आपनो न अवडेरिये।।" बाहुक, ३४

ऐसी दशामें थोड़ी-सी चूक पड़ने पर भी मुझे न छोड़िए, क्योंकि मैं आपका ही पाला हुआ हूं। आपको तो अपना बड़प्पन देखना चाहिए। आप शिवरूप हैं। थोड़े दोषसे क्रुद्ध हो जाते हैं, यह ठीक नहीं। आपका स्थापित व्यक्ति हूं, मेरी दुर्दशा न करिए। गोस्वामीजी इस प्रकार त्रस्त हो गये कि किसी अवसर पर कुछ आराम-सा अनुभव करके कहते हैं—

"खायौ हुतौ तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि,
केसरीकिसोर राखे बीर बरिआई है।" बाहुक, ३५

अर्थात् हनुमान्जी ने मुझे बचा लिया। पर इसी छन्दमें—"पीर जारिये जवासे जस" से स्पष्ट है कि बाहु-पीड़ा दूर नहीं हो पाई थी, कुछ सेहत होनेसे ही वे प्रसन्न हो उठे थे। अन्तको घबराकर कह उठते हैं—

"रहौं दरबार परौ लटि लूलो।" बाहुक, ३६

इससे भी उक्त बातकी पुष्टि हो जाती है। अन्तमें हनुमान्जी की प्रार्थनासे सफलता नहीं मिली और—

"पांयपीर पेटपीर बांहपीर मुँहपीर,
जरजर सकल सरीर पीर भई है।
देव भूत पितर करम खल काल ग्रह,
मोहीं पर दवरि दमानक-सी दई है।" बाहुक, ३८

अर्थात् सारा शरीर जर्जर हो पीड़ामय बन गया तथा देव, पितर, भूत आदि, भाग्य, दुष्ट समय और ग्रह, सबने आक्रमण करके तोपकी-सी बाढ़ छोड़ दी। ऐसी दशा में सिवा राम के और किसका भरोसा हो सकता है? अतः कहते हैं—

"हौं तो बिन मोलके बिकानो बलि बारे ही तें,
खोर राम नामको ललाट लिखि दई है।
कुंभजके किंकर बिकल बूड़े गोखुरनि,
हाय राम-राय ऐसी हाल कहुँ भई है।" बाहुक, ३८

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी की पीड़ा बारबार बढ़ती ही चली गई थी। वह 'हाय राम हाय राम' कहकर और दुखःमें भरकर कहने लगते हैं कि भक्तों की कभी ऐसी भी दशा देखी गई है। इसीसे हम उनकी शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारकी गिरी दशा का अनुभव कर सकते हैं।

फिर इस बाहु (पीड़ा) को सुबाहुसे तुलना करके राम-लखन को स्मरण किया है और दूत-भूत को अपनी सामर्थ्यसे बाहर मानकर उनसे उसे नष्ट करनेकी प्रार्थना की है। इसीमें अपनी पुस्तिकाके नामकी भी चर्चा कर दी गई है। पर इसके बाद भी—

"भारी पीर दुसह सरीरतें बिहाल होत,
सोऊ रघुबीर विनु सकै दूर करि को।" बाहुक, ४२

प्रार्थना पर भी पीर बढ़ती गई थी। यहां तक तो राम का भरोसा रहा, पर अन्तमें व्यथित हो—

"हौं हूं रहौं मौन ह्वै वयो सो जानि लुनिये।"

कहकर शान्त हो जाते हैं। ये भावनाएँ नितान्त अंत समय की प्रतीत होती हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी वृद्धावस्थाका अंतिम कालीन जीवन बहुत दुःख और कष्टमय रहा था। गोस्वामीजी ने अपने जीवनमें तीन देवोंकी महिमा बढ़ाई है। वे कहते हैं—

"सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित,
हित उपदेस कों महेस मानें गुरु कै।"

यों उन्होंने राम, हनुमान् और शिव इन तीनोंको मान्य समझा है। उनकी सभी रचनाओंमें यह भावना मिलती है। इस रचनामें अनेक जीवनविषयक घटनाओंकी भी चर्चा आई है। अतः उस पर प्रकाश डालना भी असंगत न होगा। वे स्वयं कहते हैं—

"बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो,
राम नाम लेत मांगि खात टूक-टाक हौं।
पर्‍यौ लोक रीतिमें पुनीत प्रीति राम राय,
मोहबस बैठो तोरि तरकतराक हौं।।
खोटे-खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनिकुमार सोध्यौ, राम पानि पाक हौं।
तुलसी गुसाईं भयौ भोंड़े दिन भूलि गयौ,
ताकौ फल पावत निदान परिपाक हौं।।" बाहुक, ४०

इस कवित्तमें गोस्वामीजी ने अपने जीवनका संक्षेपमें परिचय देनेका प्रयत्न किया है। इस कथनसे प्रकट होता है कि बचपनसे ही इन्हें राम नामका आधार मिल गया था और उसीके सहारे रोटीके टुकड़े मांगकर खाया करते थे।

इसके बाद ही विवाहबन्धनमें फँसनेके कारण राजा रामकी पवित्र प्रीतिको मोहमें पड़कर तोड़ डाला। अर्थात् सांसारिकतामें लिप्त हो गये। इसी दशामें दुष्ट आचरण कर रहे थे कि हनुमान्‌जी का आधार लेनेसे ब्रह्मचर्यकी वृत्तियां जाग्रत् हो गईं और

राम के हाथोंसे पवित्र हो गये। अर्थात् हनुमान् के आदर्श पर समाजका संगठन करने व सदाचारका प्रचार होनेसे जीवनको उत्कर्ष मिला।

फिर रामचरित्र की भावना देखकर गार्हस्थ्य जीवन तथा सद्वृत्तियोंसे समाजको पवित्र बना दिया। कहते हैं, इन कारणोंसे मैं गुसाईं (मठाधीश) बना दिया गया। उस समय में अपने दुर्दिनोंको भूल गया। उसीका फल अब में बरतोर और शरीरकी पीड़ाके रूपमें भुगत रहा हूं।

यह छन्द गोस्वामीजी की जीवनकी आधारभित्ति बन सकता है। गोस्वामीजी ने हनुमान्जी की १२ मूर्त्तियां स्थापित कराई हैं और सात रामायणोंकी रचना की है। इनके सिवा अनेक फुटकर संग्रह व खंडकाव्य रचे हैं। इन सबकी विवेचना अन्यत्र की गई है। गोस्वामीजी ने एक दूसरे छन्दमें भी—"टूकनि कौं घर-घर डोलत कंगाल बोलि, बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसौ है।" उक्त धारणाकी पुष्टि की है। गोस्वामीजी की दाहिनी बांहमें बरतोर हुआ था, यह 'सोई बांह गही जो गही समीर-डावरे" से स्पष्ट है।

फिर "जाके जिये मुये सोचु करिहैं न लरिकौं" से यह प्रकट होता है कि उनके कोई सन्तान नहीं थी। इन शब्दोंसे तो लड़की होनेकी भी सम्भावना नहीं जान पड़ती। अथवा पैदा होकर बालक या बालिका मर गये हों, यह भी सम्भव है।

इस प्रकार गोस्वामीजी की अन्तिम समयकी इस रचनासे जहां उनकी मानसिक और शारीरिक दशाका पता चलता है, वहां उनके जीवन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। आशा है, विद्वत्समाज गम्भीरतासे इन विचारों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालनेका प्रयत्न करेगा।